सहजानंद शास्त्रमाला

प्रवचनसार प्रवचन

भाग-3

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

प्रवचनसार प्रवचन

तृतीय, चतुर्थ व पंचम भाग

प्रवक्ता:

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:

खेमचन्द जैन सर्राफ,

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको

भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

द्वितीय संस्करण ११०० | सन् १९७४ | मूल्य

http://www.jainkosh.org

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा ।

४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।

५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रवचनसार प्रवचन तृतीय भाग

अब तक केवलज्ञानके विषयमें वर्णन हुआ, अब आनन्दका वर्णन शुरू होता है। आनन्दाधिकार यहाँसे प्रारंभ होता है। ज्ञानप्रपञ्चके अनंतर आनन्दप्रपञ्च कहनेका प्रयोजन यह है कि आत्मामें यद्यपि ज्ञान और आनंद दोनों सहज गुण हैं तथापि संवेदन ज्ञान द्वारा ही है, अतः पहिले ज्ञानप्रपञ्च किया। अब ज्ञानसे अभिन्न आनन्दके स्वरूप बनाते हैं और साथ ही साथ यह भी कहते हैं कि उस सुखके अनेक परिणमनोंमें कौनसा सुख हेय है, कौन सा सुख उपादेय है ?

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥

उपादेय ज्ञान और सुखके विवरणका संकल्प—इस गाथामें सबसे पहले यह बताते हैं कि सुखका स्वरूप ज्ञानसे अभिन्न है। सुखका जो संवेदन है, सुखरूप जो परिणति है, वह ज्ञानसे अभिन्न है। जहाँ सच्चा सुख नहीं होता, जहाँ शुद्ध सुख नहीं होता, वहाँ तो यह छाँट की जा सकती है कि यह सुख और यह ज्ञान, परन्तु जहां सच्चा सुख होता है वहाँ यह छांट करना कठिन है। वहाँ तो सुख और ज्ञान अभिन्न हैं। इस प्रकारसे ज्ञानसे अभिन्न जो सुख है उसका स्वरूप बताते हुए यह बताते कि कौनसा ज्ञान व सुख हेय है और कौनसा ज्ञान व सुख उपादेय है ?

उपादेय ज्ञान व सुखका निरूपण—ज्ञान और सुख मूर्तिक और इन्द्रियज भी हैं और ज्ञान और सुख अमूर्तिक और अतीन्द्रियज भी हैं। सबसे पहले सुखका स्वरूप पहिचानने के लिए सुखके दो प्रकार बनालो—एक मूर्तिक और इन्द्रियज व दूसरा अमूर्तिक और अतीन्द्रियज। मूर्तिक सुखके जाननेको पहले स्मरण कीजिये कि अवधिज्ञानका विषय क्या क्या है ? अवधि ज्ञान कर्म परमाणुओं को जानने वाला है, राग द्वेष आदि भाव जो कर्मपरमाणुओंके कारण हैं उनको भी जानने वाला है, राग द्वेष आदि भावोंसे होने वाले सुख दुःख परिणामोंको भी जानने वाला है, उपशम सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको भी जानने वाला है, तो अवधिज्ञान मूर्तिकको ही जानता। उसके विषय क्या क्या बन गये ? रागद्वेष भी, सुख दुःख

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भी, क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव भी, ये सब उनके विषय हैं। तो जिनको वह संसारी जीव सुखका अनुभव करता है और जो कर्मके उदयसे हैं, इसलिये ये मूर्तिक ही हैं। इन्द्रियोंसे और कर्मके उदयसे जो सुख उत्पन्न होता है, वह तो मूर्तिक और इंद्रियज ही है। दूसरे प्रकार से ज्ञानसुख अमूर्तिक और अतीन्द्रियज होता है। वह अतीन्द्रिय और अमूर्तिक ज्ञान सुख ही यहां मुख्य माना गया है, और उसे ही उपादेय समझना चाहिये। मूर्तिक ज्ञान और मूर्तिक सुख हेय हैं। जितने भी मूर्त भाव हैं, सब हेय हैं। भगवानकी भक्तिमें जो अनुराग है वह भी कर्मके उदयसे है, तो वह भी हेय है। वृत्तिमें संयमसे, ब्रतसे चलनेकी, उसे पालनेकी जो बुद्धि है, और उनमें जो अनुराग रहता है, तो वह भी कर्मके उदयसें होता है, इसलिए वह भी हेय है। जो कर्मके उदयसे उत्पन्न हो, वह अनुराग और बुद्धि हेय होती है, उपादेय नहीं। वस्तुत: तो निश्चयसे जो बुद्धि लगती है, वह भी उपादेय नहीं। जो शुद्ध अवस्थामें पहुंच गया उसके तो उपादेयकी बुद्धि ही नहीं है, वे तो निश्चयको भी उपादेय नहीं बता सकते। निश्चय तत्त्व उपादेय है, यह भाव भी कर्मके उदयसे होता, तो निश्च्य तत्त्व उपादेय है, यह भाव भी मूर्तिक ही होता। तो यह भी हेय परिणाम है। व्यवहारकी तो चीज जाने दो, निश्च्य तत्त्व उपादेय है, ऐसा परिणाम भी हेय है।

अतीन्द्रिय ज्ञानकी व सुखकी उपादेयता—कहते कि ज्ञान और सुख मूर्तिक भी होता, इन्द्रियज भी होता, अमूर्तिक भी होता, अतीन्द्रियज भी होता, उन चारोंके बीचमें जो अमूर्तिक और अतीन्द्रियज है, वह उपादेय है। जो मूर्तिक और इंद्रियज सुख व ज्ञान हैं, वे क्षायोपशमिक इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न होते, इसलिए वह ज्ञान और सुख पराधीन होते। आनन्दके शुद्ध स्वरूपको बतानेके लिए उसके अशुद्ध स्वरूपको बताया जायगा, और फिर शुद्ध स्वरूप समझमें आयगा। शुद्ध आनन्दका मूल्य अशुद्ध आनन्दका वर्णन करके जाना जायगा। यह अशुद्ध आनन्द इन्द्रियोंसे पैदा होता है, इसलिये पराधीन है। जितने भी सुख हैं, वे सब पराधीन हैं। स्वाधीन सुख तो सहज शुद्ध आत्माका अवलोकन, उसीमें अहं अहं ऐसा प्रत्यय करके अभेद ज्ञानकी स्थितिसे रहता ही है। जितना भी इन्द्रियोंसे जायमान सुख है, वह पराधीन सुख है। दुनियाके लोग बड़े-बड़े महल, बड़ी-बड़ी संपत्तियाँ जोड़नेके लिए परिश्रम कर जाते, परतु परिश्रम पूरे होनेपर भी उसे भोग सकते हैं या नहीं, ऐसी वहां कोई गारंटी नहीं लगा सकते, इसलिए यह सुख पराधीन है। पराधीन सुख होनेके कारण यह हेय है। ज्ञान मूर्तिक भी होता और अमूर्तिक भी होता, इसी तरहसे सुख भी मूर्तिक भी होता और अमूर्तिक भी होता। जो ज्ञान और सुख मूर्तिक है वह तो हेय है, और जो ज्ञान और सुख अमूर्तिक है, वह उपादेय है।

अतीन्द्रिय ज्ञान सुख व इन्द्रियज ज्ञान सुखमें अन्तर—मूर्तिक होनेके कारण और इन्द्रियोंसे पैदा होनेके कारण तो क्रमसे इसकी प्रवृत्ति है। केवलीके ज्ञान और सुख अमूर्तिक

Version 1

होनेके कारण वह इन्द्रियोंसे पैदा नहीं होता और उसमें क्रमसे प्रवृत्ति नहीं होती। उनके जैसे सर्वज्ञानकी पर्याय सर्व ज्ञेयोंमें एक साथ आई, इसी तरहसे सर्व सुखकी पर्यायें, जिसे अनन्त सुख कहते हैं उस अनंत सुखकी सारी चीज उनमें एक साथ आती हैं। उस अनन्त सुखका यदि अनुमान करें तो यहाँके जीवोंको जितना सुख मिलता है उन सब जीवोंका सर्व सुख जोड़ डालो और उनके तीनों कालोंके सब सुखोंको जोड़ लो, जोड़ने पर जो सुख आवे उससे भी अनन्त गुणा सुख वहां पाया जाता है। एक साथ तीनों कालोंके सब सुख जितने से भी अधिक सुख उनमें होते हैं। परन्तु जीवोंके तीनों कालोंके सुखोंकी जाति उनके अमूर्त सुखमें मिलती ही नहीं है, इसलिए उनके सुखकी जाति तो बिल्कुल ही न्यारी है। यहाँके जीवोंमें तो जो सुख हैं वह कर्मके उदयसे हैं, इन्द्रियसे पैदा होते हैं, पराधीन हैं, दुःख भी उसमें बीच बीचमें आते जाते हैं। कोई मनुष्य ऐसा नहीं है कि वह एक दिन भी लगातार सुखी ही सुखी रहे, कोई मनुष्य ऐसा नहीं मिल सकता जो निष्पक्ष दृष्टिसे ऐसा कह दे कि वह आज दिन भर सुखी रहा। यहाँके जीवोंका यह ज्ञान और यह सुख दोनों पराधीन, विनाशीक, कर्मके उदयसे होने वाले, क्रमसे होने वाले, प्रतिपक्ष दुःख सहित, हानि लाभके अन्तर वाले हैं, इसलिए यह ज्ञान और यह सुख गौण हैं, लक्ष्यमें लाने योग्य व आदर्शके योग्य नहीं हैं, इसलिए यह ज्ञान और यह सुख मूर्तिक है और मूर्तिक होनेके कारण हेय हैं।

मोहमें चिन्तनकी शैली—किसीसे भी प्रेम बढ़ा रहे, किसीसे भी सुख बढ़ा रहे, उसीसे अन्तमें सुख न मिलकर दुःख मिला। जिसके लिए इतना परिश्रम किया, जिसके सुखके लिए इतना उद्यम किया, वही अंतमें जाकर दुःखके कारण बन जाते। मोहमें यह नहीं सूझता। दो वर्षके बच्चेको यह कहकर खिलाते कि वाह रे राजा, तू बड़ा होगा तो हमें सुख देगा। उस वक्त किसीको यह नहीं ख्याल आता कि वह अन्तमें दुःख पहुंचा सकता है। वहाँ मोहमें तो इष्टपनेकी कल्पना ही सूझती है, अपने अनिष्टपनेकी बात ही कल्पनामें नहीं उठती है। सागरकी बात है कि हम और गुरुजी दोनोंने वहाँ जेठ सुदी १४ का उपवास किया जब कि गर्मी बहुत पड़ती है। रात्रिमें दोनों करीब पास-पास सो रहे थे। एक बजे रात तक हम दोनोंको नींद नहीं लगी तो हमने गुरुजीसे कहा कि महाराजजी! कुछ ऐसा लगता कि हमारे दर्शनावरणका क्षय हो गया। यह सुनकरके वे हंस दिये और उसी समय पड़ी ठंड तथा हमें नींद आ लगी। सुबह चले मंदिरके लिए तो रास्तेमें एक स्त्री एक लड़केको, जिसकी हड्डी निकल रही थीं, नाकसे नाक बह रहा था, इस तरहसे खिला रही, वाहरे बन्दरिया सुख देन बन्दरिया। तो यह सुनकर हमने गुरु जी से कहा कि क्या इसका वेद बदल गया है और क्या गारन्टी भी हो गई कि यह सुख ही देगा। कहते हुए मुझे भी हंसी आई, गुरुजी भी जोरसे हंसे, हंसीके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मारे चलते ही न बने, तब मुझे मधुर तमाचा मारकर बंद किया। परन्तु वह मोहसे देख रही थी। तो मोहके उदयमें कोई पुरुष अपनी संतानके प्रति यह नहीं सोच सकता कि वह उसके विरुद्ध भी कभी हो सकता है। ऐसे वह उसमें इष्ट ही इष्ट देखता है, अनिष्टकी कल्पना नहीं करता। तो यह सुख इन्द्रियज सुख है। इसमें उपादेय बुद्धि नहीं करनी चाहिए।

आत्माका स्वास्थ्य—समन्तभद्र आचार्य सुपार्श्वनाथ भगवानकी स्तुति कर रहे थे, उस स्तुतिमें कहते कि स्वास्थ्य यदात्यन्तिकमेव पुंसां, स्त्रार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा। तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदामख्यद्भगवान् सुपार्श्वः॥ सब लोग अपने शरीरको स्वस्थ देखकर कहते हैं कि मैं स्वस्थ हूं। कोई पूछे तो भी उसका यही प्रयोजन लगाते। परन्तु स्वास्थ्य का मतलब क्या होता? स्व माने आत्मा और स्व माने स्थित, उसका भाव है स्वास्थ्य। जो अपनी आत्मामें स्थित हो जाता है, वही स्वास्थ्य है। सेठ जी से पूछे कि आप स्वस्थ हो तो अपना शरीर देखकर कह देते कि हाँ, मैं तो स्वस्थ हूं। तब पूछने वाला ज्ञानी कहता कि सेठ जी जरा दिमाग ठिकाने कीजिये कि आप स्वस्थ कैसे हैं? आप झूठ क्यों बोलते हैं, आप अपनी आत्मामें स्थित कहाँ हैं? शरीरपर दृष्टि गई और शरीरकी परिस्थितिको देखकर जो उत्तर दे रहे हैं, वह गलत है। आपको यह कहना चाहिए कि मेरा स्वास्थ्य रंच भी नहीं है। हमेशाके लिए आत्मामें स्थित हो जाना, यही अवस्था स्वास्थ्य है। स्वार्थ क्या है, हमेशाके लिए निजकी आत्माके अर्थ लग जाना, यही स्वार्थ है। भोगना अर्थात् भोग स्वार्थ नहीं है। संसारके सुखका भोग क्षणिक है, इसलिए हेय है। जितनी देरको यह सुख भोगा है, उतनी देरको भी वह सुख नहीं, क्योंकि उसमें भी भीतरसे तृष्णाका सम्बन्ध है। भोग भोगते हुए, विषयसेवन करते हुए भी कितनी तड़फड़ाट, कितनी गड़बड़ात उसमें आ सकती? जो जीव मोहके कारण दो सालके बच्चेमें यह बड़ा सुख देगा, यह कल्पना कर सकता है, वह मोही जीव अपने अन्दरके तृष्णा भावमें इसीको सुख मानकर कल्पना करे तो कौनसी आश्चर्यकी बात है? यहाँ तृष्णाका सम्बंध है, इसलिए वह स्वास्थ्य नहीं, सुख नहीं और स्वार्थ नहीं।

इन्द्रियज सुखकी असारता—आचार्यश्रीने इसमें ऐसी हितमय वाणी कही है कि यह सब सुख मात्र हवाई हैं और इनका बताना जो देह है, वह हवाई जहाजकी तरह है, यह शरीर उसका यन्त्र है और ड्राइवरकी तरह यह हमारी आत्मा है। इसके कारण ही शरीरकी प्रवृत्तियां होती हैं। जैसे अजंगम यंत्र जंगम पुरुषके द्वारा चलाया जाता है, इसी तरहसे यह शरीर आत्माके द्वारा चलाया जाता है। उसमें बैठने वाले तो अनन्त लोग रहते; भैया! हमें एक बात याद आई, हमें कई बार जब सड़कपर चलते हैं, तो बढ़िया मोटर देखकर यह लगता कि इसमें तो कोई देवता बैठा होगा, परन्तु जब अन्दर देखते तो लगता कि यह तो वही हाड़ मांस नाक मल मूत्र आदिसे भरा हुआ पुतला बैठा है। यह जो शरीर है, चाहे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कितना ही सुन्दर रहो, परन्तु यह शरीर हितू नहीं है। इसके चार अवगुण हैं। यह वीभत्स है अर्थात् भयानक है। जब जीव निकल जाता है, तो शरीरको देखकर अन्दाज करो कि वह कितना भयानक होता है? दूसरी बात यह कि मोहके उदयमें लगता है कि शरीर सुन्दर है। परन्तु उस सुन्दर शरीरमें क्रोधका भाव आ जाय तब उसके चेहरेको देखो कि वह कितना असुन्दर लगता? वह उस समय भी भयानक होता, और समयमें जब वह शान्तिसे बैठा है, तो उस समय उसके मुखमें जो सुन्दरता आई वह सुन्दरता शान्तिके प्रतापसे आई। इसलिए यह शरीर वीभत्स है। इसके अलावा यह अपवित्र भी है अथवा यह तो जैसा है, सो तैसा ही है। यदि इसको अपवित्र बनाया तो आत्माके राग मोहने बनाया। रागद्वेष मोह जैसी पर्यायों में रहनेके कारण यह आत्मा ही अभी अपवित्र है। ये सारे खून, मांस और हड्डी अपवित्र हैं, यह तो लोकव्यवहार है। परन्तु इनको व्यावहारिक भी अपवित्र बनाया किसने? जिसने अपवित्र बनाया, वह हेय है या जिसे अपवित्र बनाया गया, वह हेय है? एक लड़केने एक चांडाल को छू लिया, इसलिए उससे कहते कि तुम नहावो, वरन् तुम अशुद्ध हो और उससे लड़के दूर रहते, यदि वह अछूता किसीको छू ले तो वह दूसरा लड़का भी अछूता माना जाता तो फिर इन दोनोंमें से अधिक अछूता कौन? जो लड़का छू गया वह अपवित्र हुआ या जिससे छुआ गया वह अपवित्र रहा। वह लड़का तो सम्बन्धसे अछूता हुआ तथा दूसरा भी, परन्तु प्रथम अछूता तो पहिला है व चाण्डाल तो अपवित्र है ही। इसी तरह अपवित्र तो वह आत्मा हुई जिसके कारण शरीरको अपवित्र बनना पड़ा। तथा शरीर भी अपवित्र ही है। सुन्दरसे सुन्दर चीज, सुन्दरसे सुन्दर आँख सब अपवित्र हैं। इसका लक्ष्य कर जिस समय भी सोचता उस समय भी आनन्द नहीं आता।

अतीन्द्रियसुखकी स्वाभाविकता—आत्मा रागमय है, परन्तु उसमें एक ही तरहका राग नहीं होता। यदि एक ही तरहका राग हो तो वहां तो विश्राम मिल जाता। यह विषय सुख पराधीन सुख है, सदा रहने वाला नहीं। यह साराका सारा मूर्तिक सुख है, इन्द्रियज सुख है। इससे विलक्षण दूसरी तरहका ज्ञान सुख, जहाँ अमूर्त और अतीन्द्रियपना रहता है वह कैसा है? पहले तो ऐसी दृष्टि बनाओ कि वह जो सुखकी बात सोची वह सुख अनन्त ज्ञानसे अभिन्न है। वह ज्ञानसुख अमूर्तिक आत्मपरिणामकी शक्तियोंसे पैदा होता है, जो चैतन्यका सम्बन्ध रखने वाली है, एक ऐसी आत्माके स्वाभाविक परिणमन शक्तियोंसे अतीन्द्रिय होनेके कारण वह सुख स्वाभाविक है जो सुख कि केवल आत्माके स्वाधीन भावसे पैदा होता। अमूर्त आत्मशक्तिसे ही जिसकी उत्पत्ति है वह ही अमूर्तिक अतीन्द्रिय सुख है।

आनन्दमें अतीन्द्रिय विशुद्ध आह्लाद—यहाँ यह शंका होती कि आत्मामें सुख दु:खके ना नहीं होता। जहाँ दु:ख ही नहीं है ऐसे सिद्धोंमें, अरहंतमें, सुख जैसी चीज ही क्या

Report any errors at vikasnd@gmail.com

रहे ? इसका उत्तर यह है कि पहिली बात तो यह है कि उसे सुख शब्दसे कहा जाय या आनन्द शब्दसे कहा जाय। आत्मामें एक जातिका गुण अनादिसे अनन्त काल तक रहता। संसार अवस्थामें जितनी भी पर्याय होती हैं वे कोई न कोई गुणकी वजहसे होती हैं। आत्मा में जो दुःख पैदा होता है वह भी किसी गुणकी अवस्थासे रहता तो जहाँ दुख न रहे केवल सुख कहा, वहाँ आनन्दको सुख कहा। आनन्दमें दुःखकी अवस्था नहीं रहती है। तो वह अवस्था आनन्द नामसे पाई गई है। हम जीवोंकी दृष्टि सुखसे ज्यादा परिचित है। तो उसकी वह जो अवस्था है उसको जाननेके लिए जहाँ ज्ञानके विकारमें दुःख आया था उसके अभावमें उस स्थितिको समझाने के लिए हम सुख शब्दसे कहते हैं। वहाँ तो उसको आनन्द शब्दसे कहा जाय तो ज्यादा अच्छा है। आनन्दका अर्थ क्या ? आ माने चारों ओर, और नन्द माने समृद्धि आ जाये। चारों ओरसे जहां समृद्धि आ जाये उसे आनन्द कहते हैं। इस तरह जो केवलका सुख है वह सुख आत्माकी परिणमन शक्तियोंसे पैदा होता। वह आत्माके ही आधीन है, स्वाधीन ही है। सहज शुद्ध आत्माके अभेद ज्ञानके कारण पैदा होता, ऐसा वह सुख, जिसमें संकल्प-विकल्पोंका नाम नहीं, वह सुख स्वाधीन है, पराधीन नहीं है। उस सुख की एक साथ प्रवृत्ति है। वह सारेके सारे अभेद परिच्छेदोंसे एक ही साथ प्रवृत्ति है। जिस समय सुखके विषयमें कोई तारीफ की जाय, उतनी ही तारीफ ज्ञान के विषयमें जानो और ज्ञानके विषयमें जितनी भी तारीफ है वह सुखकी तारीफ जानो, क्योंकि उन दोनोंमें अभेदपना है। ज्ञान और सुख विरोध रहित हैं, प्रतिपक्ष रहित हैं, जो अवस्था सर्व दुःख रहित है, ऐसा ज्ञान सुख मुख्य है, ऐसी बात जानकर ऐसी श्रद्धा करो कि ज्ञान और सुख ऐसा ही उपादेय है।

श्रद्धाकी सूक्ष्मतर सावधानी—अतीन्द्रिय ज्ञान सुख उपादेय है, ऐसा जो परिणाम होता उसमें यह श्रद्धा करो, इस श्रद्धाके साथ निश्चय उपादेय है, ऐसा परिणाम जो बना यह परिणाम भी हेय है। ऐसा भी विचार करो निश्चय उपादेय है ऐसा जो परिणाम हुआ वह परिणाम भी हेय है। ज्ञानी भगवानकी भक्ति कर रहा, परन्तु भगवानकी भक्ति ही करता रहना चाहे, तो यह बुद्धि जो है वह हेय है, परन्तु ऐसा परिणाम ज्ञानीके पैदा नही होता। भक्ति उसके आती है, परन्तु उसको पकड़ कर बैठ जाय कि यह चीज मेरे ही में नित्य जमा रहे, ऐसा परिणाम उसके नहीं होता। कितना सावधान वह ज्ञानी है। किसी समुद्रके बीचमें कोई आदमी जैसे एक बालिस्त भर की पुलिया पर चलता है तो कितना सावधानी रखकर चलता है कि कहीं मेरी सावधानी भंग न हो जाय जिससे मैं समुद्रमें गिर जाऊं, इसी तरहसे वह ज्ञानी कितना सावधान है कि वह कहीं भी डिग नहीं सकता। कितने विचारकी उसमें शक्ति है ? ऐसे योग्य आत्मामें जब विकल्पोंसे दूर ऐसा जो ज्ञानसुख होता है, जो अतीन्द्रिय

Version 1

भी है और अमूर्तिक भी है, वह उपादेय है, परन्तु जो यह परिणाम विकल्प कर रहा, यह परिणाम भी हेय है। इस प्रकार अमूर्तिक, ज्ञायक, अतीन्द्रिय चिदानंद ही जिसका स्वतःसिद्ध स्वरूप है, ऐसे सुखका कारण जो ऐसा ही तान है, वह उपादेय है, परन्तु ऐसे विकल्प परिणामोंमें भी जमकर बैठ जाना हेय है। इस प्रकार आनंदकी यह भूमिका है। इससे मूर्त सुख में जो हेय बुद्धि और अमूर्त सुखमें उपादेय बुद्धि आयेगी।

निर्मल ज्ञानके साथ निर्मल ज्ञानकी उद्भूति—यह सुखका प्रकरण चल रहा है। सुख वही उत्तम है जो अतीन्द्रिय हो, स्वाभाविक निराकुलता रूप हो और अतीन्द्रिय हो, ऐसा सुख उपादेय है। इस अतीन्द्रिय सुखका कारण अथवा साधन अतीन्द्रिय ज्ञान है। यद्यपि भेदविवक्षामें ज्ञानगुणका स्वरूप जुदा है और आनन्द गुणका स्वरूप जुदा है, ज्ञानका चिह्न संचेतन है और आनन्दका चिह्न आह्लाद है, तथापि वस्तुत: देखो तो ज्ञान और आनन्द भिन्न भिन्न सत् नहीं हैं, ज्ञानकी सहज अवस्था आनन्दकी सहज अवस्थाको लेकर होती है, और आनन्दकी सहज अवस्था ज्ञानकी सहज अवस्थाको लेकर होती है। इन्द्रियज्ञानके समय इन्द्रिय सुख है, और अतीन्द्रियज्ञानके कालमें अतीन्द्रिय सुख है, मलिन ज्ञानमें मलिन सुख व निर्मल ज्ञानमें निर्मल सुख है। सुख ज्ञानके अनुरूप होता है तब यह प्रतीत होता है कि सुखका साधन ज्ञान है, हमें सुख चाहिये तो ज्ञानकी सम्हाल करनी चाहिये, जो ज्ञानकी सम्हाल न करे और बाह्य पदार्थोंकी सम्हालका यत्न विकल्पित करे तो वह सुखका पात्र तो क्या, उल्टा वेदना ही पाता है, क्योंकि सुखका साधन बाह्य द्रव्य नहीं, किन्तु निज ज्ञान ही है। यह आनन्दका प्रकरण चल रहा है। इसमें यह तर्कणा चल रही है कि सुख कौनसा उपादेय है ? तब सिद्ध किया कि अतीन्द्रिय सुख ही उपादेय है। अब प्रश्न हुआ कि उसका साधन क्या है ? तब उत्तरमें अतीन्द्रिय ज्ञान साधन है और वह उपादेय है। ऐसा अभिस्तवन करते हैं, उत्तम बात कहना स्वयं स्तुति बन जाती है।

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं॥५४॥

अतीन्द्रिय ज्ञानका स्तवन—इस गाथामें यह बताते हैं कि अतीन्द्रिय सुखका साधन अतीन्द्रिय ज्ञान है और वह अतीन्द्रिय ज्ञान ही उपादेय है। अतीन्द्रिय ज्ञान वह है जो अपनी सत्ताके लिये इन्द्रियकी अपेक्षा न करे। अतीन्द्रिय ज्ञान भी दो प्रकारका होता है। एक तो नित्य कार्यरूप और दूसरा स्वानुभव रूप। स्वानुभव रूप अर्थात् सहज शुद्ध आत्माका अभेद ज्ञान भी अतीन्द्रिय ज्ञान है। ऐसा ज्ञान मानसिक ज्ञान नहीं और जो मानसिक ज्ञान है, वह स्वानुभव नहीं। छद्मस्थ अवस्थामें मति और श्रुतज्ञान चलते हैं और ये दो इन्द्रियज या मानसिक ज्ञान हैं। सो जब तक विकल्पावस्था है, उस अवस्थामें स्वानुभव नहीं होता। इन्द्रियज

Report any errors at vikasnd@gmail.com

ज्ञानके कारणसे अतीन्द्रिय ज्ञान हो जाय, यह बात असम्भव है, इसलिए मानना होगा कि केवलज्ञान अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण कोई न कोई अतीन्द्रियज्ञान ही होगा। दूसरी बात यह है कि जो मतिज्ञानके बारेमें यह बताया गया कि यह इन्द्रिय और मनके निमित्तसे पैदा होता, तो उसका पैदा होना ही तो बताया गया। आत्मामें नित्य प्रकाशमान सहज शुद्ध जो सामान्यतत्त्व है, उसका अभेद ज्ञान जब पैदा होनेको है, तो मनके विकल्प निमित्त कारण पड़ते हैं, जब उस विकल्पज्ञानके अनन्तर निर्विकल्प अवस्था आती है, तो उस समय विकल्पज्ञान नहीं चलता, उसका लक्ष्य करके स्वतः प्रकट होने वाला जो परमपद है, वहाँ अतीन्द्रिय सुखका साधनभूत जो ज्ञान है, वह अतीन्द्रिय ज्ञान है और अतीन्द्रिय ज्ञान ही उपादेय है, ऐसा स्तवन करना, इस ५४वीं गाथामें बताया गया है।

अतीन्द्रिय ज्ञानमें अमूर्त और प्रच्छन्नोंका ज्ञातृत्व—जो ज्ञान देखते वाले पुरुषके ज्ञान तरंगरूप जो ज्ञान है, वह अमूर्तिकको भी जानता। वह अमूर्तिक क्या चीज है? धर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और इनसे भी श्रेष्ठ अतीन्द्रिय राग रहित सच्चिदानन्द ही है, एक स्वभाव जिसका ऐसा परमात्म द्रव्य, ये ५ चीज अमूर्त हैं, इस अमूर्तको भी जानता, मूर्त पदार्थ जो हैं उनको भी जानता, और जो प्रच्छन्न हैं, कालसे प्रच्छन्न हैं, ऐसे भूत भविष्य की चीज, और जो क्षेत्रसे प्रच्छन्न अलोकाकाश प्रदेश आदि और भावसे प्रच्छन्न सूक्ष्मसे सूक्ष्म परमाणु आदि, द्रव्यसे प्रच्छन्न वे सभी पिण्ड उन सब प्रच्छन्नोंको भी जानता है और कुछको भी जानता है। वह और कुछ क्या? भूतकालमें अपने द्रव्यमें आने वाली या परद्रव्यमें आने वाली जो और भी चीज है, विभाव, अशुद्ध अवस्था इन सबको भी जानता है, ऐसा ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान है और वह ज्ञान ही सर्वज्ञके अतीन्द्रिय सुखका साधन है। इन्द्रियज्ञानमें यह शक्ति नहीं कि वह अतीन्द्रिय सुखका साधन बन सके, केवल अतीन्द्रिय ज्ञानमें ही ऐसी शक्ति है। अतीन्द्रिय ज्ञान अमूर्तिक और मूर्तिकको भी और अमूर्तिक मूर्तिकमें भी प्रच्छन्न आदि सबको जानता है। जो बड़ी मुश्किलसे कोशिश करनेपर भी समझमें नहीं आने वाले द्रव्य, जो क्षेत्र, काल और भावसे भी प्रच्छन्न हैं, क्षेत्रसे प्रच्छन्न अलोकाकाशके प्रदेश, कालसे प्रच्छन्न जो वर्तमानमें नहीं हैं ऐसी भूत और भविष्यकी पर्याएं और भावसे प्रच्छन्न स्थूल पर्यायोंमें घुसी हुई जो सूक्ष्मसे सूक्ष्म पर्याएं होतीं, वे सब केवलीकी ज्ञान पर्यायोंमें रहती ही हैं। क्योंकि वे सबकी सब वहाँ प्रत्यक्ष हैं। द्रव्यमें सबसे अधिक सूक्ष्म चीज कालद्रव्य है। वह कालद्रव्य ऐसा है जिसकी पर्याय समय है, वह द्रव्यसे प्रच्छन्न है, क्षेत्रसे अलोकाकाशके प्रदेश प्रच्छन्न हैं और कालसे प्रच्छन्नभूत और भविष्यकी पर्याएं हैं, जो कालसे ढकी होती हैं, भावसे प्रच्छन्न स्थूल पर्यायोंमें घुसी हुई सूक्ष्म पर्याएं हैं। जैसे एक बालक एक महीनेमें एक अंगुल बढ़ गया, परन्तु

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वह तो समय-समयपर बढ़ रहा, परन्तु उसका वह प्रतिसमय बढ़ना भावसे प्रच्छन्न है और उसका वर्णन नहीं किया जा सकता और एक महीने भरमें उसका एक अंगुल बढ़ना दिखाई दे गया तो उसका वर्णन किया गया। एक मोटी पर्यायमें भी प्रति समय सूक्ष्म पर्याएं चल रही हैं, जिन्हें हम परिवर्तन कहते, वे सूक्ष्म पर्याएं भावसे प्रच्छन्न हैं। ऐसे सब प्रच्छन्नों को भी जो देख लेते हैं, ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञानी जीवोंके स्वयं अतीन्द्रिय सुख होता है।

सुख और ज्ञानकी अविनाभाविता—अतीन्द्रिय सुख उसीके होता है, जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान हो। ज्ञानको छोड़कर सुख नहीं रहता, और सुखको छोड़कर ज्ञान नहीं हो सकता। सुख और ज्ञानमें ऐसा ही भाईचारा है। ऐसे ज्ञान और सुखका सम्बंध अभिन्न है। ज्ञानके बिना सुख नहीं रहता, और जहाँ सुख नहीं हो, वहाँ ज्ञान नहीं रहता। वहां ही यह बात बतलाते कि अतीन्द्रिय सुखका साधन अतीन्द्रिय ज्ञान है। यहां यह प्रश्न हुआ कि जब ज्ञानसे अभिन्न सुखको बतलाया जा रहा है तो ज्ञान और सुख दो गुण नहीं बतलाना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि वहाँ स्वरूपदृष्टिसे तो ज्ञान और सुख दो हैं, परंतु ज्ञानसे जुदा सुखका संवेदन नहीं बताया जा सकता और सुखसे जुदा ज्ञानका संवेदन नहीं बताया जा सकता, इसलिए वे अभिन्न हैं। यहाँ फिर यह प्रश्न होता कि और ऐसे गुण हैं, जो ज्ञानसे अभिन्न नहीं बताये जा सकते तो उनको भी ज्ञानसे अभिन्न कर दो। इसका समाधान यह है कि जब उन गुणोंका वर्णन आयगा तो वे भी ज्ञानसे अभिन्न हो जाएंगे। जैसे सूक्ष्म गुण ज्ञानसे अभिन्न हैं। यदि ज्ञानके स्वरूप निर्माणमें से सूक्ष्म गुणको निकाल दो तो उसका सूक्ष्मपना मिट जाना चाहिए और वह स्थूल हो जाना चाहिए, परन्तु ज्ञान स्थूल तो नहीं हो जाता। इसलिए सभी गुणोंको देखो, जो आत्मामें भरे हुए हैं, वे सब अपना भिन्न-भिन्न लक्षण सत्ताको लिए हुए होते हैं, परन्तु वे ज्ञानसे भिन्न नहीं। उस आत्माकी शक्तियोंको बताया जा रहा है कि वे सब गुण उस आत्मा द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं और द्रव्यकी सत्तामें ही हैं, इसलिए सब अभिन्न हैं।

अध्यात्म मोक्षमार्ग—प्रारम्भिक दशामें शिष्योंको समझानेके लिए भेददृष्टिसे वर्णन होता है और समझ चुकनेके बाद अभेददृष्टिसे वर्णन होता है, यह अध्यात्म वर्णनका तरीका है। अध्यात्म अनुभवमें उतरे हुयेको पूछे कि मोक्षमार्ग क्या है ? तो वह एकदम यह नहीं कहेगा कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है। परन्तु यह कहेंगे कि जो एक ज्ञानमात्र अभेद परिणति होती, उस एक परिणतिको कहेंगे कि यह अभेदानुभव मोक्षका मार्ग है। फिर वे कहेंगे कि ज्ञानका श्रद्धान स्वभावसे रहना, सो सम्यग्दर्शन है, ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना, सो सम्यग्ज्ञान है और ज्ञानका रागादि भावोंके त्यागके स्वभावसे होना सो सम्यक्चारित्र है। इसलिए ज्ञान ही दर्शन, ज्ञान ही ज्ञान और ज्ञान ही चारित्र है, यह अभेददृष्टिसे बता रहे। चारित्र वह जो किसी वस्तुको जाने और ऐसा जाने कि उसके जाननेमें रागादि भाव नहीं रहे, परन्तु वह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

चारित्र क्या ? चारित्र वह कि जो बहुत देर तक ज्ञानमय बना रहे। दर्शन क्या ? ज्ञानका ज्ञानरूपसे बना रहना और इससे विपरीत श्रद्धा न लाना, इसीको दर्शन कहते हैं। तो ज्ञानका ज्ञान रूपसे बना रहना यह सामान्यतया अनुभव किया, यही दर्शन हुआ और ज्ञानका ज्ञानरूप से होना, यह ज्ञान हुआ व बहुत देर तक बना रहना यह हुआ चारित्र। तो इस प्रकार दर्शन ज्ञान और चारित्र—ये तीनों गुण अभेद ही हैं।

विभुताका साम्राज्य—अब यह प्रश्न होता कि ज्ञानमें यदि अनन्त गुण आ गए तो ज्ञान द्रव्य हो जायगा। गुण जो होते हैं वे द्रव्यके आधारसे होते हैं, तो सारे गुण ज्ञानके आधार होते हैं तो ज्ञानको द्रव्य हो जाना चाहिए। इसका समाधान यह है कि यहाँ अन्य गुणोंको जो ज्ञानमें मिलाया वह आधारसे नहीं मिलाया है। वे तो सहयोगी होकर मिले हैं। आधारसे होकर मिलना यह तो द्रव्यमें ही होता और सहयोगी होकर मिलना यह अलग चीज है। सहयोगी होकर वह अभेद हो जाय तो वह एक स्वरूप है ही क्या ? ज्ञानमें से सब गुण निकाल दो तो फिर इनको निकाल देनेसे ज्ञानमें उल्टी चीज आ जानी चाहिए। फिर उस ज्ञानका स्वरूप क्या रह जायगा—यह सोचो। इस आत्माको देखो। वह आत्मा ज्ञानमय है। अब यह ज्ञान कितनेमय है। ज्ञान सूक्ष्म भी है, ज्ञान परिणमता इसलिए अगुरुलघु भी है, ज्ञान अमूर्तिक भी है, ज्ञान स्थिर भी है। यदि ये गुण सहयोगी होकर एक दूसरेको ठोस लेनेके साधन न रहें तो यह बताओ कि ज्ञानका कोई अस्तित्व भी रहेगा क्या ? नहीं रहेगा। इस तरह ज्ञानमें जितने गुण हैं वे अपृथक् रूपसे रहते, फिर भी एक गुण दूसरे गुणके आधाररूप नहीं, सहयोगी रूप है। सहयोगी रूपसे वे सब गुण न्यारे नहीं हैं। उन सब गुणोंका अभेदपिंड एक आत्मद्रव्य है और वह आत्मा ज्ञानमय है। यदि उसमें से कोई एक गुण भी निकाला जाय तो कोई गुण उसमें नहीं टिक सकता। द्रव्यकी दृष्टिसे देखो—एक चीज है और वह परिणमती है। परिणमन भी एक है। एक समयमें एक परिणमन है, ऐसी उस चीजमें कल्पना करके गुण ढूंढ़ते। द्रव्य की तरफसे देखते तो ऐसा लगता कि गुण तो उसमें मानी हुई चीज है। यदि गुणकी तरफसे देखते तो ऐसा लगता कि द्रव्य क्या है, समस्त गुणोंका एक अभेद-पिण्ड द्रव्य है। तब और द्रव्य क्या रहा ? द्रव्य तो मानी हुई चीज है। यह तत्त्वका विकट रहस्य है।

वस्तुस्वरूपकी वचनागोचरता—जो है वह अनुभवमें तो सत्य उतरता है परन्तु वचनोंसे सत्य नहीं उतरता। हर पहलुओंसे दीखा वह तो चीज है और जो कल्पनासे जिस एक तत्त्वका आलंबन किया वह चीज नहीं। जैसे अंगुलीके सहारे चन्द्रमा दिखाया जाय तो देखने वाला केवल उंगलीको ही नहीं देखता और न बीचके मार्गको ही देखता, वह तो उस उंगलीकी सीधसे चन्द्रमाको देखता। इसी तरहसे सब दृष्टियोंसे जहाँ वह एक निर्विकल्प अखंड

Version 1

एक ज्ञानस्वभाव अनुभवमें आए तो वह सत्य लगा और उस अनुभवमें विकल्प किया तो वह सत्य नहीं लगेगा। उस अनुभवको यदि वचनसे कहें तो वह सत्य बात नहीं बैठेगी। यह चीज पुद्गलद्रव्योंके भी ऐसी ही है, केवल आत्मद्रव्यके ही नहीं। जैसे कोई कहे कि मिश्री तुमने जो खाई उसका स्वाद समझादो। परन्तु मिश्रीका स्वाद समझाने में असमर्थ हो जाओगे। कहोगे कि बड़ी मीठी चीज है, गन्नेसे बनती है। गन्नेमें से इतना मैल निकालते तो गन्ने में जो मीठा निर्मल रस रह जाता है उससे अधिक मीठा गुड़ बनता है। गुड़मेंसे भी मैल निकालकर शक्कर बनाते जो गुड़से भी ज्यादा मीठी होती है। उस शक्करको भी और स्वच्छ बनाकर मिश्री बनाते तो वह शक्करसे भी ज्यादा मीठी होती है। यह तो बताया कि वह मिश्री इतनी अधिक मीठी होती है, परन्तु सुनने वाले को मिश्रीके मिठासकी सचाईका अनुभव नहीं हो पाया और स्वयं जिसने उसे खाई तो वे उसके रसका अनुभव कर लेंगे, परन्तु समझा नहीं सकेंगे। इसी प्रकारसे ज्ञानके अनुभवको वचनसे कहें तो वह सही नहीं बैठेगा।

गुणोंकी द्रव्याश्रयता—सारे गुणोंका एक समूह, ऐसा एक जो पिंड है वही तो एक द्रव्य है। गुण द्रव्यके आधारमें हैं। द्रव्यकी जगहमे देखो तो द्रव्य है, द्रव्यका परिणमन द्रव्य को यह तरंग है, और तरंगमें सब गुण विद्यमान हैं। आत्मा जानता है तो ज्ञानगुण, देखता है इसलिए दर्शनगुण, रागादिसे रहित है इसलिए चारित्रगुण निराकुलताका भाव है इसलिए सुखगुण, अमूर्तिक है इसलिए अमूर्तिक गुण अनुभव होते हैं, ये आत्माकी शक्तियाँ हैं, जिनके परिणामस्वरूप आत्माकी तरंग होती हैं, उन्हें कहते हैं शक्तियाँ या गुण। इन सब गुणोंमें से किसी भी एक गुणका निर्माण ही सारे गुणोंकी वजहसे होता है। यदि उसमेंसे और गुणोंको भिन्न मानें तो एक गुण भी अपना स्वरूप कायम नहीं रख सकता। परन्तु एक गुणका भी अन्य कोई गुण आधार नहीं है। आधार होगा तो उनमें अभेद सिद्ध नहीं होगा।

आत्मामें ज्ञानका प्राधान्य—देखो भैया! अमृतचन्द सूरि महाराजको ज्ञानसे इतना पक्षपात हो गया कि सुखका वर्णन करनेकी बात कह रह थे, परन्तु उनको तो ज्ञानकी ही धुन है, आनन्दका वर्णन करते हुए उसमें भी ज्ञानको रख दिया, ऐसा उनके पक्ष लग गया। कुछ भी वर्णन करें तो बीचमें ज्ञानका वर्णन करने लग जाते, यह उनमें पक्षपात हो गया। सब जगह उन्होंने ज्ञानको खोंस दिया। तो अमृतचन्द आचार्य ज्ञानगुणके ही पक्षमें इतने क्यों आए? एक दृष्टिसे यदि देखें तो इन सब गुणोंमें राजा एक ज्ञानगुण है, और ऐसा मालूम होता कि इस ज्ञानकी रक्षाके लिए ही वे सारे गुण हैं। ज्ञानमें यदि अमूर्तिकपना न आये तो यह ज्ञान मूर्तिक बन बैठेगा और वह अतीन्द्रिय ज्ञान ही नहीं रहेगा। इस प्रकार ज्ञानके स्वरूपकी रक्षाके लिए अमूर्त गुण आया। ज्ञानकी सत्ता रख देनेके लिए ही उसमें सूक्ष्म गुण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

आया। आत्मामें सूक्ष्म गुण है। ज्ञान ज्ञान ही रहे अन्य गुणरूप या अन्य द्रव्यरूप अथवा अध्रुव पर्यायरूप न बन जाये, इस शक्तिको अगुरुलघु बनाये हैं। सो देखो अगुरुलघुने भी ज्ञान की रक्षा की। कल्पना करो कि किसी ज्ञानसे किसी आत्मासे यह गुण मिट जाय तो वह आत्माका स्वरूप कैसे रह सकता ? परन्तु किसी आत्मासे सूक्ष्म गुण न मिट जाय, यह सोच-कर ज्ञानकी भावना आत्मामें करनी पड़ी है, ऐसी तो कल्पना नहीं होती। सहज आत्माका ज्ञानगुण समाप्त न हो जाय, इसलिए ज्ञान आया, ऐसी बात भी कल्पनामें नहीं आ पाती। परन्तु ज्ञान न मिट जाय, इसलिए अगुरुलघु गुण आया। जितने भी गुण हैं, मानो इन सबको ज्ञानगुणकी आवश्यकता नहीं परन्तु ज्ञानगुणको सब गुणोंकी आवश्यकता है। आत्माके अन्दर ज्ञानगुण एक ऐसा ही प्रधान गुण है।

आत्माकी साधारणासाधारणधर्मस्वरूपता—यदि आत्मासे कहते हैं कि तुझे बहुत गुणोंमें रहते हुए बहुत दिन हो गये, आज एक गुण कम करना चाहता हूं तो सोचें कि किस गुणको नष्ट किया जाय ? किसी भी गुणको निकालेंगे तो आत्मा ही बिखर जायेगी। आत्मा की ही सत्ता नहीं रह सकेगी। इसके अतिरिक्त ये ज्ञानके अतिरिक्त बाकी गुण ऐसे हैं, जो किसी तरह ज्ञानके बिना कहीं टिक सकते हैं, परन्तु आत्मामें और जितने गुण हैं, उनके बिना ज्ञान नहीं टिक सकता। पुद्गलमें अगुरुलघु धर्म और अधर्ममें सूक्ष्म और अमूर्तिक गुण आदि प्रकार रह सकते हैं, ये ज्ञानके बिना टिक सकते हैं, परन्तु इन सबके बिना ज्ञान नहीं टिक सकता। सूक्ष्म कहते किसे हैं ? जो सूक्ष्म हो, ज्ञान उसे कहते हैं, जो जानता है। इस बुद्धिमें स्वरूपका भेद आया, इसलिए उनमें भेद पड़ा, परन्तु आत्मामें भेद नहीं चल सकता। आत्मा का वह ज्ञान तो सब गुणों सहित है। वही ज्ञान सर्वगुण है। किसी भी द्रव्यको जिस गुणकी मुख्यतासे देखो वह द्रव्य उसी गुणरूप प्रगट होता है। ऐसे सर्व गुणोंका पिंड अभेद रूप आत्मा है। उस आत्मामें जब तक ज्ञान अतीन्द्रिय नहीं आयगा, वह ज्ञान जिसमें अनादिसे चैतन्य सामान्यका सम्बंध है, एक ही ऐसी आत्माको जो प्रतिनियत है, इतर किन्हीं भी सामग्रियोंको नहीं खोजता, अपनी अनंत शक्तियोंके कारण जो अनंत बन गया। ऐसी अपनी स्थितिको अनु-भव करने वाला ज्ञान है, जो ज्ञान किसीके द्वारा निवारण नहीं किया जा सकता, वह ज्ञान जब तक आत्मामें नहीं आयगा तब तक अनंत सुख प्राप्त नहीं हो सकता। वह ऐसा अतीन्द्रिय ज्ञान ही अनन्त सुखका कारण है।

अतीन्द्रिय ज्ञानानुभवकी उपादेयता—अतीन्द्रिय सुख इन्द्रियज्ञानमें नहीं आ सकता। अतीन्द्रिय ज्ञानकी दृष्टिसे ही अतीन्द्रिय सुखको देख सको तो वह अनुभव हो सकेगा। यहाँपर प्रश्न हुआ कि अतीन्द्रिय सुख अतीन्द्रिय ज्ञानके बिना नहीं होता, यह तो समझमें आया, परंतु हमारे हो रहा है इन्द्रियजज्ञान जिसके द्वारा वह सुख समझमें आयेगा ही नहीं, तो जो चीज

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

समझमें आ ही नहीं सकेगी, उसको समझानेका कष्ट क्यों किया जाता है ? इसका समाधान यह है कि अतीन्द्रिय ज्ञान दो प्रकारके हैं—एक सबमें रहने वाला और दूसरा केवलीमें रहने वाला। छद्मस्थमें रहने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान वह है जो सहज शुद्ध सामान्य तत्त्वमय आत्माके अभेद ज्ञान सामान्य है, उसमें जो मानसिक विकल्प होता है, उसकी उत्पत्तिके बाद वह निश्चय जब दृढ़तामें आता है, तो आत्मा उन विकल्पोंको छोड़ता है और यह आत्मा तब स्वानुभवको पाता है, और स्वानुभवकी उस स्थितिको अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। उस चीजको बतानेके लिए यह इन्द्रियज ज्ञान और यह मानसिक ज्ञान बताया गया। जैसे शास्त्रोंका पढ़ना शास्त्रोंको भूलनेके लिए ही होता। इनमें विकल्प जो किया उसकी सफलता इस विकल्पके त्यागमें ही है। यहाँ कोई कहे जब निर्विकल्प अवस्थाकी बात है, जब फिर विकल्पोंको छोड़ना ही है, फिर शास्त्रविकल्पसे लाभ क्या तो भाई ! शास्त्रोंके विकल्प उस निर्विकल्प अवस्थाको पानेके लिए ही किया। जब यह अवस्था आ जायगी, तो उन्हें भूलना ही पड़ेगा। यदि यह कहो कि जब शास्त्रोंको भूलना ही पड़ेगा, तो शास्त्रोंको पढ़नेसे फायदा ही क्या ? परन्तु ऐसा किये बिना वह निर्विकल्प अवस्था पाओगे कैसे ? इसी प्रकार इन्द्रियज ज्ञानके द्वारा इतने विकल्पोंको पैदा करनेके बाद निर्विकल्प अवस्थाको पाने वाले अतीन्द्रिय सुखके स्वरूपको भी समझ सकते हैं। यहाँ इस तरह यह सिद्ध किया कि अतीन्द्रिय सुखका साधन अतीन्द्रिय ज्ञान है, इसलिये अतीन्द्रिय ज्ञान ही उपादेय है, और इन्द्रिय ज्ञान हेय है।

अतीन्द्रिय ज्ञानके निरूपणके बाद इन्द्रियज ज्ञानका हेयतया निरूपण—कलके प्रकरण में यह बात बताई थी कि अतीन्द्रिय सुखका साधन अतीन्द्रिय ज्ञान है, और बात है भी यही कि जैसा ज्ञान होगा उसी विषयक, उसी शैलीका सुख होता। मिठाईके ज्ञान बिना मिठाईके स्वादका सुख क्या ? इन्द्रियज्ञानसे इन्द्रियसुख होता, और अतीन्द्रिय ज्ञानसे अतीन्द्रिय सुख होता। जैसी ज्ञानकी तारीफ वैसी ही सुखकी तारीफ और जो सुखकी तारीफ वह ही ज्ञानकी तारीफ, ज्ञान और सुखमें इसी तरहका भाईचारा या अभेदपना है। आज बतलाते हैं कि जो इन्द्रियज्ञान इन्द्रियसुखका साधन है, वह हेय है। इन्द्रियसुखका साधनभूत जो इन्द्रियज्ञान है, वह हेय है। इस जीवके अनादिकालसे जो इन्द्रिय ज्ञान रहा, वह अब नहीं चाहिए। अब ५ इन्द्रियोंके विषयोंमें जो सुख आते हैं, वे नहीं चाहिएं। वह इन्द्रियज्ञान जो अतीन्द्रिय ज्ञानका विपक्ष है, हेय है, उस इन्द्रियज्ञानकी प्रकृष्ट निन्दा करते हैं, देखो भैया ! श्रीमत्कुन्दकुन्द देवने अतीन्द्रियज्ञानका कुछ स्वरूप ५४वीं गाथामें कहा था, वह तो स्तवन बन गया था, वहाँ कहीं आचार्य श्रीने स्तवन नहीं किया था, मात्र कुछ स्वरूप ही बताया था, और अब इस ५५वीं गाथामें भी इन्द्रियज्ञानका स्वरूप ही बता रहे हैं। किन्तु स्वरूप ही ऐसी पराधीन अपूर्ण विशुद्ध अवस्थाको लिये हुए है कि स्वरूप कहते ही निन्दा हो जाती है, इसमें केवल इन्द्रिय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञानकी ही निन्दा नहीं है, इन्द्रियसुखकी पहिले निन्दा है। प्रकरण भी सुखका ही तो चल रहा है, इन्द्रियज्ञान तो हमारे सत्पथके प्रारम्भिक यत्नमें कभी कोई सहकारी भी हो सकता है, किन्तु इन्द्रियसुख तो सदा मेरी शांतिके विरुद्ध ही रहता है। यहाँ इन्द्रियसुखके साधनी-भूत इन्द्रियज्ञानका हेयतया प्रणिनंदन करते हैं, वर्णन करते हैं।

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥५५॥

इन्द्रियज्ञानका क्या ज्ञानपना—यह इन्द्रियज्ञान कैसा है? यह जीव तो स्वयं अमूर्तिक है, परन्तु शरीरसे इसका सम्बन्ध होनेके कारण यह मूर्तिकके द्वारा ही मूर्तिकको ही जानता है। इन्द्रिय विकल्प, क्षयोपशम, मानसिक विकल्प, ये सब मूर्तिक हैं। इनके द्वारा मूर्तिक यह जीवको अवग्रह करके जानता है। यह जीव प्रारंभिक अस्पष्ट विकल्प करके जानता है और योग्यको जानता है। जो सामने पड़ा है या स्थूल है ऐसी चीजको जानता है अथवा नहीं भी जानता। यह जो भी जानता है वह जाननेमें जानना नहीं कहा जा सकता। जैसे कभी पिता किसी बेटेसे जबरदस्ती कोई काम कराता है तो वह कहता है कि क्या यह करनेमें करना है, पहलेसे ही प्रेम और विवेकसे यह कार्य होता, तो वह करनेमें करना होता। इसी तरहसे जो ज्ञान ऐसा है, जो मूर्तिकके द्वारा जानता, मूर्तिकको जानता, अवग्रह करके जानता, और कुछ ही को जानता, वह कोई जाननेमें जानना है। आत्मामें स्वभाव तो सर्वज्ञ त्रैकालिकका है, यह स्वभाव होते हुए भी पराधीनकी तरह जानना क्या जाननेमें जानना है। इस प्रकारसे जो इतनी गड़बड़ियों वाला ज्ञान है, वह कोई ज्ञानमें ज्ञान है। इसे आचार्य कहते हैं कि यह ज्ञान नहीं है। इन्द्रियज्ञानके जरियेसे नाना प्रकारके अवगुण आते हैं। यह ना कुछ इन्द्रियज्ञान मिला, जब तो इतना घमंड इस जीवके है, यदि असम्भव एक कल्पना करें, यह केवली मान कषायका जरासा भी अंश अपने ज्ञानमें पाते तो कल्पना कर लें कि वे अपने ज्ञानके द्वारा दुनियाकी क्या दशा कर डालते? तात्पर्य यह है कि इस जीवको यदि इतना बड़ा ज्ञान इस कषायमें रहता तो अनर्थकी हद हो जाती, तो ज्ञानमें मानकषाय नहीं आता, इसीसे सर्वज्ञपनेमें मानकषाय नहीं आता।

इन्द्रियज ज्ञानकी कमजोरियां—यहाँ हमारा इन्द्रियजज्ञान कैसा है, यह बात बतलाते हैं। इन्द्रियज्ञान मूर्तिसे तो जानता है और मूर्तिको ही जानता है। मूर्तिकको ये ही जानता है, इसलिए वह पराधीन है, स्थूल पदार्थोंको ही जानता और मूर्तिकके द्वारा अर्थात् इन्द्रियज्ञानके द्वारा ही जानता। स्वभावसे अमूर्तिक होते हुए भी यह जीव पाँच इन्द्रिय वाले मूर्त शरीरको प्राप्त हुआ। अमूर्तसे मूर्तकी सन्निधि पाई तो ऐसा फल हुआ कि यह मूर्तके द्वारा ही जान पाता और मूर्तको ही जान पाता। तो ज्ञानके उत्पन्न होनेमें जबरदस्तीका कारण लग जानेके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कारण ये इन्द्रियादि चेलेंज दे रहे हैं, तुम कुछ जान पाओगे तो हमारे हुक्मसे, हमारे सहयोग से ही जान सकते हो। हमारे बिना कुछ नहीं कर सकोगे, यह बलाधान निमित्त ऐसा हो गया कि इसके बिना कुछ गड़बड़ ये कर ही नहीं सकता। ऐसा जो इन्द्रियज्ञान है, वह मूर्तिक के द्वारा मूर्तिकको ही, जिनमें कि स्पर्श, रस आदि गुण हैं, ऐसे योग्यको ही अवग्रह करके जानता है। यह इन्द्रियज्ञान किसी पदार्थको जानता है तो पहले अवग्रह होता है। अब इसके बाद क्षयोपशम विशेष हो व यदि हमारा उपयोग लगा तो और ज्यादा ईहादि ज्ञान होने लगा और यदि यह बात नहीं हुई तो अवग्रह होकर ही समाप्त हो जाता। इस प्रकार थोड़ासा प्रतिभासमें आ पाता और समाप्त हो जाता, ऐसा इन्द्रियज्ञान है। इसमें शुद्धि हो तो आगे भी जान पाता। हम किसी चीजको भी देखते हैं, तो हमारा ज्ञान पराधीन होनेके कारण ऐसा लगता कि हमने जल्दी ही उसे समझ लिया, परन्तु वहाँ अवग्रह आदि क्रमसे ज्ञान हुआ। कदाचित् क्षयोपशम विशेष होता तो आगे बढ़ें अर्थात् कुछ ज्यादा समझ लेते। यह इन्द्रियज्ञान मेरा हितू नही है, यह तो मेरे स्वभावका घातक ही है अर्थात् बहकाने वाला है। ऐसे विशुद्ध स्वभाव वाले चैतन्यके लिए यह ज्ञानगुण और इसमें ही रमकर रह जाना, यह तो एक बड़ा अपराध है, बड़ा कलंक है, और आगेकी उन्नतिमें बड़ा भारी रोड़ा है। यदि ऐसी बात आई तो अतीन्द्रिय सुखकी प्रवृत्ति नहीं रही। इसलिए यह बताया कि इन्द्रियज्ञान हेय है।

परोक्षज्ञानमें व्यग्रता व शक्तिघात—यह परोक्ष ज्ञान कैसा है ? यद्यपि इस आत्मामें अनादिकालसे ही शुद्ध चैतन्य सामान्यका सम्बन्ध है। इस इन्द्रियज्ञानी जीवको समझा रहे कि तेरे अन्दर चैतन्यसामान्यका सम्बन्ध अनादिकाल ही से स्वतः ही है परन्तु इन्द्रियजालमें फंसे होनेके कारण स्वयं अपने आप स्वाधीनतया आत्माके द्वारा अर्थोंको जानने लेनेमें असमर्थ हो गया। जैसे आँखसे सब देखते हैं, फिर भी आँखमें पट्टी लगा देवें तो स्वयं अपने देखनेमें असमर्थ हो गया, इसी तरह अनादि कालसे चैतन्य सामान्यका सम्बन्ध पाया, परन्तु फिर भी अज्ञानरूपी अंधकारसे अंधा हो गया और अर्थोंको जाननेमें असमर्थ हो गया। इसके बाद प्राप्त और अप्राप्त जो परनिमित्तक सामग्रियाँ हैं, उनकी खोजके लिए व्यग्र हो गया। जब स्वयं नहीं जान पाता यह जीव, तो जाननेके लिए १० अन्य चीजोंका सहारा लेता और उनको खोजनेकी व्यग्रता पैदा करता। इस व्यग्रतासे वह अपनी शक्तियोंको खो देता। यह जीव अल्पज्ञानी है और स्वयं जाननेमें असमर्थ है और अपने जाननपनेसे जाननेके लिए अन्य सामग्रियोंकी खोजमें व्यग्र हो गया तो उसने अपनी स्वयंकी शक्तियां खो दीं। हमारी अनन्त शक्तियाँ इसीलिये खराब हो गईं कि हम अज्ञानकी ग्रन्थीसे गुंठित होनेसे पदार्थोंको स्वयं जाननेमें असमर्थ हो गये, परन्तु बुद्धिमें बहुत बहुत जाननेकी इच्छा पैदा हो गई, जब स्वयं जाननेमें असमर्थ हैं तो फिर आश्रय खोजते, इस तरह आश्रय खोजनेकी व्यग्रता पैदा होती,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो उससे इस आत्माकी अनन्त शक्तियाँ नष्ट हो गईं।

मोहमल्लका आक्रमण—यहाँ यह विशेषण दिया कि प्राप्त सामग्री और अप्राप्त दोनों सामग्रीको अपने ज्ञानको बढ़ानेके लिए खोजनेमें व्यग्र हो जाते। परन्तु उस जीवकी सत्ता तो उसीके आधीन है। आँख कमजोर हो गई, उसका जाला निकलवाते हैं, तो यह आँख तो हमारी सत्ता नहीं है। आँख सुधरना या बिगड़ना यह जो परिणमता है वह तो मेरे आधीन नहीं है, परन्तु जो परपदार्थ हैं अथवा परसामग्री है उसको खोजनेमें जो व्यग्रता आती, वह व्यग्रता तो पराधीन सामग्रीको खोजनेके लिए होती, इसलिए उस व्यग्रताके कारण उसका ज्ञान मोटा बन गया, ऐसा जो संस्थूल ज्ञान है वह अनन्त शक्तिके मिट जानेसे अधीर है और अपने आपको टिका नहीं सकता, सस्थिर है। ऐसा जो यह इन्द्रियज्ञान है वह महान मोह मल्लके वशमें होनेके कारण है। जैसे कि एक लड़केको मारने वाले उसके चार भाई हैं, तो उसकी कैसी दशा होती, एकने पटका, एकने मुक्का मारा, एकने घसीटा और एकने थप्पड़ मारा, और उस लड़केका कचूमर निकल गया। तो हम इस इन्द्रियज्ञानमें कैसी दुर्गति चल रही है, कदाचित् इन्द्रियज्ञान भी हो जाय तो टिके भी नहीं, १० जगह भी जाय, इतना ही हो जाय तो भी ठीक है, संतोषकी बात है, परंतु इतना ही नहीं रहने दिया, वहाँ तो महा मोहमल्ल जिन्दा है, इसलिए परपदार्थकी परिणतिमें उसका अभिप्राय आ गया। परपरिणतिमें अभिप्राय होना ही मिथ्यात्व है। यही संसारमें रुलाने वाला भाव है। ऐसा अभिप्राय होनेपर भी जगह-जगहपर ठगाया गया। यह जीव अनादिकालसे ठगाथा गया ही तो रहा। यदि पर-की परिणति मेरे आधीन होती और परकी परिणतिका अभिप्राय भी आता तो भी बुरा नहीं था, किन्तु मोहसे यह ज्ञान बार-बार ठगाया जाता है, यह तो इसका कचूमर ही निकालता।

इन्द्रियज ज्ञान सुखकी अहितरूपता—एक दुष्टके अथवा एक पापीके नावमें आनेसे कहते हैं कि सारी नौका डूब जाती, इसी तरहसे एक मोहके आनेसे इन्द्रियज्ञानको भी गालियां मिल रही हैं, और न जाने कितनी गालियां और मिलेंगी? इन्द्रियज ज्ञान कैसा है, इसके अवगुण बतला रहे हैं। यह मूर्तिकके द्वारा जानता, मूर्तिकको ही जानता, बलाधान निमित्त होते हैं, निमित्त जिनके उनके निमित्तसे जानता, ऐसा पराधीन भी है, फिर अवग्रह करके रह जाता, कदाचित् ही ऊपरको जाता। कहते यहाँ तक भी ठीक है। जैसे एक चतुर लड़केको कोई पीट रहा, वह लड़का पिटता हुआ यह सोच रहा कि चलो मुक्के ही तो लग रहे, हंटर तो नहीं लग रहे, फांसी तो नहीं लगी। इसी तरहसे इस पिटते हुए संसारी जीवको ऐसा बतलाते हैं कि चलो इतना ही सही, अभी यह तो नहीं हुआ, परंतु यह और तो लगा ही है, अनादिकालसे अज्ञान होनेके कारण यह स्वयं पदार्थोंको नहीं जानता, कहते कि इतना भी हो तो कोई बात नहीं, परंतु वहाँ तो पदार्थोंको जाननेके लिए पराधीन सामग्रीको खोजनेमें व्य-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ग्रता ग्राती, ग्रौर उस व्यग्रताके होनेसे उसके ज्ञानकी ग्रनंत शक्ति नष्ट हो जाती। इतना होनें पर भी उसमें निरंतर विप्लव होते, ग्रौर वह एक जगह नहीं टिक सकता। इसके बाद भी एक ग्रौर लगी है कि मोहमल्ल लगा है, उसके कारण परिणतिका ग्रभिप्राय भी उसके साथ लग गया, उससे तो उसमें बड़ा बुरापन ग्रा गया। परको मैं यों कर दूं, ऐसा परिणमा दूँ, ऐसा ग्रभिप्राय इसके साथ लग गया ग्रौर उस लगनेके साथ एक बात ग्रौर लगी कि यह समय समयपर बहुत ठगाया भीं तो जाता है। परपदार्थको यों परिणमा दूं, ऐसा ग्रभिप्राय बना रहे ग्रौर ऐसा होता भी रहे तो भी कोई बात नहीं, वह पिटने वाला कहता है कि ग्रभी तक भी हमारी कोई हानि नहीं है, परंतु यह बार-बार ठगाया भी तो जाता है। ग्राचार्य महाराज कहते हैं कि एक जिस ज्ञानके ग्रंदर इतनी गड़बड़ियां दिखती हैं, ग्रौर उसपर भी ठगाया ही गया, ऐसा इन्द्रियज्ञान यदि जानता है तो मैं समझता हूं कि यह तो जानता ही नहीं। ऐसा ज्ञान ऐसी सम्भावनाके ही योग्य है। इसलिए यह जो इन्द्रियज्ञान है, वह हेय है।

इन्द्रियजज्ञानमें प्रेरक भावका ग्रपराध—इन्द्रियज्ञान ही मेरा स्वरूप है, इन्द्रियज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, इस प्रकारकी बुद्धि ही हेय है। वह ग्रतीन्द्रिय सुख इन्द्रियज्ञानके सम्बन्धसे नहीं ग्राता। जहाँ इन्द्रियज्ञान होता है, इसके निमित्त रागद्वेष ग्रादि भाव भी साथ चला करते हैं, इसलिए वह इन्द्रियज्ञान जगह-जगहपर गालियां ही खाता है, परन्तु वास्तवमें इन्द्रियज्ञान का दोष क्या ? ग्राँखसे जो देखते तो देखनेमें जो राग भाव लगा है उसमें बुरा होता, ग्रांखके देखनेमें तो बुराई नहीं हुई। साधु पुरुष घर छोड़कर साधु हो जाता है, उसे कभी स्त्री ही पड़गाहनेको ग्राती। यदि वह सोचे कि यह मेरी स्त्री है, इसलिए मैं यहाँ ग्राहार नहीं करता, तो उसका मुनिपना नष्ट हो गया। यदि वह सोचे कि मैंने उसे छोड़ दिया है, इसलिए ग्राहार नहीं करता, तो उसने स्त्रीको ही छोड़ा, तद्विषयक विकल्प तो नहीं छोड़ा तो वह मुनि ही नहीं बना। वास्तवमें मुनि होता तो रागको छोड़ता। वहाँ नेत्रोंसे ही देखते, परंतु नेत्रोंसे देखने पर भी वह बुद्धि तो नहीं है, जो गृहस्थ ग्रवस्थामें थी। तो ग्राँखका तो दोष नहीं होता, यदि दुर्भाव हो तो वहाँ रागभावका ही दोष होता। यह राग इतना चालाक है ग्रौर बदमाश है कि घरमें ग्राग तो यही लगावे ग्रौर बदनाम करे इन्द्रियज्ञानको। राग ही सारी चालाकी कर रहा है, ग्रौर इन्द्रियज्ञानकी गालियां पड़ रही हैं। इस रागके ही इन्द्रियज्ञानमें लगे रहनेके कारण ग्राकुलताकी संतति नष्ट न होगी, ग्रतः यह इन्द्रियज्ञान हेय है। वह इन्द्रियज्ञान ग्रतीन्द्रियसुखका घातक भी है, इसलिए ही हेय है।

धर्मधाम—इन्द्रियज्ञानको छोड़कर ग्रतीन्द्रियज्ञान ग्रौर ग्रतीन्द्रियसुखकी हो प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहना, इसीके मायने धर्म है। भगवानके सामने प्रार्थना करते समय भी उस ज्ञानसामान्यका ध्यान करो। जो जीव ग्रपने चैतन्य सामान्यके ग्रनुभवमें लग गया तो उस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अनुभवमें रम जानेसे वहाँ कितने ही कर्म नष्ट हो गये। परंतु २४ घंटे अन्य कार्योंमें दृष्टि रहने से वह निरावलम्ब अवस्थामें नहीं लग सका, इसलिए वह अवलम्बन करता। भगवान जो अतीन्द्रियज्ञानी हैं और अतीन्द्रिय आनन्द वाले हैं, वे अमूर्तिक परमात्मद्रव्य भगवान हैं। वह भगवान हमारी स्वयंकी आत्मा ही है। उस अतीन्द्रियसुख वाले, अतीन्द्रियज्ञान वाले परमात्मा का कोई आकार नहीं दिखता, वह तो ज्ञानके द्वारा अपनी ही परिणतिमें उसका ध्यान करने से अपनी ही परिणतिमें उसका दर्शन होता है। भगवानको भगवानमें नहीं देख सकते, भगवानको तो हमारी आत्मामें ही देख सकते हैं। सिद्धलोकमें रहने वाले सिद्धोंकी हम वहीं देखें तो सिद्धको नहीं जान पाते, क्योंकि वहाँ विकल्प है। उसके स्वरूपका आलम्बन लेकर जो हमारी अपनी ज्ञानपरिणति होती, उस परिणतिमें जो अनुभव बना, उस अनुभवमें उनके दर्शन होते। अपनी ही ज्ञानपरिणतिके अमृतभावमें हम सिद्धों और अरहंतोंके दर्शन कर सकते, परंतु सिद्धके अथवा अरहंतके स्थानपर उनके दर्शन नहीं कर सकते। भगवानके मिलनेकी जगह तो यह हृदय है। भगवानकी मूर्ति भी यहीं मिलेगी, फिर बाहर जानेकी क्या आवश्यकता है?

हमारे समस्त लोकका आधार—एक मनुष्य अपने हाथमें कुछ लिए था। उसने दूसरे मनुष्यसे पूछा कि मेरे हाथमें क्या है? जिन जिनसे उसने पूछा सब हैरान हो गये और किसीने भी कुछ नहीं बताया। एकने कहा कि हम तो नहीं बता सकते, आप ही बताओ कि आपके हाथमें क्या है? तब वह बोला कि मेरे हाथमें हाथी, घोड़े, मन्दिर, यहाँ तककी तीनों लोक विद्यमान हैं। तब वे बोले कि महाराज खोलकर बताओ, हाथ खोला तो उसमें स्याहीकी टिकिया थी, तब लोगोंने कहा कि वाह आपने तो बताया था कि मेरे हाथमें इतनी चीजें हैं, और यहां तो यह स्याहीकी टिकिया ही है। आप तो झूठ बोलते हैं। तब उसने कहा कि ठहरो, अभी बताता हूं और यह कहकर उसने वह स्याहीकी टिकिया थोड़ेसे पानीमें मिला दी और एक कलम लेकर अपने हाथमें हाथी बनाकर कहने लगा कि देखो मेरे हाथमें यह हाथी है, फिर घोड़ा बनाकर कहने लगा कि यह घोड़ा है। इस प्रकार हाथमें तो स्याही थी, परन्तु कलमसे लिखना शुरू किया तो सब कुछ बन गया। आत्मा तो इसी तरह हाथ है, ज्ञान उसमें स्याही है और कलम चारित्र है, यदि इस कलमकी मददसे स्याहीसे लिखना शुरू करें तो सबसे ऊंचीसे ऊंची चीज यहीं मिलेगी, फिर कहाँ आँख गड़ाएं? आलम्बन हमारा है, परंतु आलम्बनमें रह कर भी हम उस भगवानकी खोजमें जाएं तो वह भगवान हमको यहीं मिलेगा।

प्रभुदर्शनकी विधि—समवशरणमें भी जो देखते हैं, उस आकारसे भी भगवान नहीं, जिनको हम त्रिशलाका नन्दन, सिद्धार्थका नंदन बोलते हैं, वह भी भगवान नहीं, जिनको हम

Version 1

नामसे पुकारते हैं—महावीर, वर्द्धमान, वह भी भगवान नहीं, भगवान तो आत्माके क्षेत्रमें रहने वाला जो विशुद्ध ज्ञानानंदमय स्वरूप है, वह है। बहुत समयसे हम अन्यत्र अपना उपयोग लगा रहे थे, उस उपयोगको वहाँसे निकालकर भी परमात्मामें जो उपयोग लगा रहे थे, वहांपर हमने भगवानको नहीं पाया, परन्तु भगवानको हमने अपने आपके ज्ञानपर प्रयोग करके अपनी ही परिणतिसे उस ध्यानमें बनाया तो वहाँ जो वीतरागपनेका जो स्वाद आया, उसमें हमने भगवानको पहिचाना। मैं स्वयं परमेश्वर हूं, इसलिए परमेश्वरके दर्शन कर सकता हूँ। व्यक्त परमेश्वर नहीं हूं, फिर भी जो परमेश्वरका स्वभाव पड़ा है, और हम उपयोग लगानेके कारण हम अपनेमें जो परमेश्वरका थोड़ा अनुभव कर पाते, उस अनुभवके द्वारा हममें पूर्ण परमेश्वरताका स्वरूप जाननेमें आ जाता। परमेश्वरका दर्शन मैं अपनी ही परिणतिसे, अपने ही विवेकसे कर लेता हूं। उसका दर्शन व परिणमन ही सत्य सुख है, वह इन्द्रियज्ञानसे नहीं होता। तो अतीन्द्रिय सुखका घातक जो इन्द्रियज्ञान है, उसमें हेय बुद्धि रखना, यही हमारी बुद्धि होनी चाहिए। लालच करो तो सबसे बड़ेका करो, जिस बड़ेके लालचमें लालच नहीं टिक पाता।

इन्द्रियज्ञानकी हेयताके अवधारणका संकल्प—कल तो यह वर्णन था कि यह इन्द्रिय ज्ञान मूर्तिकके द्वारा जानता और मूर्तिकको ही जानता, अवग्रह करके जानता, योग्यको जानता और इसके अलावा अनंत शक्तिके न रहनेसे, मोहमल्लके जीवित रहनेसे विभावरूप हुआ। यह इन्द्रियज्ञान बुरा है, और इतना ही नहीं, वह परपरिणति करता, और परपरिणतिके करनेपर भी ठगाया ही जाता है, इसलिए यह इन्द्रियज्ञान हेय है। इस प्रकार इन्द्रियज्ञानकी हेयताका इतना कड़ा वर्णन किया, और फिर भी आज कहते कि यह इन्द्रियज्ञान हेय ही है। जो किसी जीवके लिए हितकारी नहीं है, वह इन्द्रियज्ञान हेय ही है, ऐसा अब निश्चय करते हैं। प्रश्न—तो क्या अब तक यह निश्चय किया नहीं जा सका था? उत्तर—आचार्यश्रीको तो ये सब निश्चय हैं ही, फिर भी उन्होंने जो अवधारयति शब्दसे व्यक्त किया, उसके यहाँ ३ रहस्य हैं—१. इस अंतराधिकारके इस स्थलमें इन्द्रियसुख और इन्द्रियज्ञानके बारेमें कुछ वर्णन तो कर ही दिया था, उस निःसार तत्त्वके प्रति अधिक समय या उस ओर वर्णन करनेमें अधिक उपयोग देना बड़े पुरुषोंकी नैसर्गिक आदत नहीं होती है। निःसारके विषयमें अधिक वर्णन करना, कुछ उसकी महत्ता प्रकट कर देनेके बराबर है। अतः इस स्थलमें अधिक न कहकर यह हेयत्व बताने वाली अंतिम गाथा कह रहे हैं। २. अवधारयति शब्द णिजंत भी होता है, जिससे वह अर्थ होता है कि निश्चय कराते हैं, जिन भव्य जीवोंपर करुणा करके भगवंतका प्रयत्न हो रहा है, उनको उपदेश देकर अंतमें ऐसा निश्चय करवाते ही हैं, आचार्यश्री तो दयालु ही हैं। यदि कोई धर्मपुत्र उनकी आज्ञाको स्वीकार न करे तो वे निश्चय कराते ही हैं। ३. वक्ता भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वर्णन करते-करते गहरी हल्की सत्पथकी उमंगोंमें चढ़ते ही रहते हैं। यहाँ सूरीश्वर ऐसे विरक्तताकी तीव्र काष्ठामें आ गये कि इन्द्रियसुख ज्ञानका उपयोग ही दूर करनेवाले हैं। सो जघन्य एवं मध्यम अंतरात्माओंपर दया कर, इस वर्णनके कामको समाप्त करनेके लिये स्वयंके वैराग्य से भरे हुए देव अवधारयति कर अपनेको निर्मलतामें ले जा रहे हैं।

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥५६॥

इन्द्रियोंपर विषयग्रहणके क्रमका कंट्रोल—अब यह बतलाते कि यह इन्द्रियाँ अपने विषयमात्रमें भी एक साथ प्रवृत्ति नही कर सकतीं, इसलिए हेय ही हैं ऐसा निश्चय करते हैं। इन्द्रियोंके क्या-क्या विषय हैं? इन्द्रियाँ ५ हैं। स्पर्शन कितनेका नाम है? साराका सारा शरीर स्पर्शन है, नाक भी, जीभ भी, यह कान दिख रहा यह कान भी, यह आंख जो दिखती यह आँख भी, ये सब स्पर्शन ही हैं। परंतु इसी स्पर्शनमें कोई ऐसी चीज है, जो घ्राण, चक्षु, कर्ण अथवा रसना कहलाती है, परंतु रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये इन्द्रियां दिख ही नहीं सकतीं। जो दिखती हैं, वे तो सब स्पर्शन इन्द्रिय हैं। जो घ्राण कर लेते हैं, सुन लेते हैं या स्वाद लेते हैं, वे कौनसी चीजें हैं। ये दिखते नहीं, किन्तु हैं। इन्द्रियोंके विषय पांच हैं, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द। उनमेंसे स्पर्श, रस, गंध और वर्ण तो प्रधान हैं और एक शब्द अलगसे कहा गया है। इन पाँचों इन्द्रियोंमें रति है, वह तो डूबनेका साधन है, संसारमें रुलने का साधन है। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये ४ पुद्गलके अंदर गुण हैं, इसलिए प्रधान हैं। शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, इसलिये वह प्रधान नहीं है। शब्द पुद्गलका गुण नहीं है, वह तो पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, वह पुद्गल द्रव्यके संयोग अथवा वियोगमें निकला करता है। द्रव्यके संयोग वियोगमें ये पर्यायें होती हैं। शब्दवर्गणा नामकी खुद एक अलग पुद्गल द्रव्य है, और उसकी पर्यायें भी हैं। उस शब्दवर्गणामें रहने वाली भी जो रूप, रस, गंध आदि पर्यायें हैं, उनमें भी शब्द पर्याय नहीं है। शब्द तो बिल्कुल अलग पर्याय है।

देवनागरीमें स्वर वर्णोंके क्रमका रहस्य—वहांसे भाषा प्रचलित हुई, वहांसे ये शब्द प्रचलित हुए, ये अकारादि आदिनाथ स्वामीके समयसे चले। प्रश्न—हिन्दीके इन शब्दोंको इस क्रमसे क्यों रखा? हिन्दीमें क्रम इसलिए है कि सबसे पहले जो आवाजका उद्गम स्थान है वह कंठ है। उसमें से निकलकर वह आवाज दूसरी ठोकर तालूपर देती है। तालू कहते हैं जीभके नीचे ऊपर दांतके समीप हिस्सेको, फिर इसके बाद मिलता है ओंठ, फिर मूर्धा मिलती। इस तरहसे ही और इसी क्रमसे इन अक्षरोंका भी उद्गम हुआ। स्वर एक अलग चीज है और व्यञ्जन अलग चीज है। स्वरोंका बंटवारा पहले लगाते हैं। सबसे पहले अ आ आता और वह कण्ठकी प्रधानताको लिए होता है। फिर इ ई आती है, वह तालूकी प्रधानता

Version 1

से होती। फिर आता है उ ऊ, उसे ओंठकी प्रधानताके बिना नहीं बोल सकते। इसके बाद आती मूर्धा। ऋ ॠ ये मूर्धाकी प्रधानताके बिना नहीं बोले जा सकते। इसके बाद लृ लॄ ये दांतोंकी प्रधानताके बिना नहीं बोले जा सकते। इस प्रकार स्वरोंमें स्थानोंका क्रम है। जैसे स्वरोंमें स्थानोंका क्रम है, उसी तरह जिनवाणीमें भी यंत्रादिमें यही क्रम है। स्वर किसे कहते हैं? स्व माने स्वयं अथवा स्वतंत्र होकर और रा माने शोभायमान हों बोले जाएं। जो स्वतंत्र रूपसे बोले जाएं वे स्वर।

व्यञ्जन वर्णोंके क्रमका रहस्य—व्यञ्जन किसे कहते हैं? जो स्वयं अथवा स्वतंत्ररूपसे न बोले जाएं। बिना स्वरोंकी मददके व्यञ्जन नहीं बोले जा सकते। हलंत भी बिना स्वरोंके सहारेके नहीं बोले जा सकते, चाहे पहले सहारा लें अथवा बादमें। इसलिए पहले उनका नम्बर रखा जो स्वतंत्रतासे बोले जा सकें, और फिर जो लंगड़े रह गये व्यञ्जन, उनका नम्बर रक्खा। व्यञ्जनोंका क्या क्रम है? व्यञ्जनोंका भी वही क्रम है, जो स्वरोंका क्रम है। पहले वे अक्षर आते, जो कण्ठकी प्रधानतासे बोले जाते, जैसे क ख ग घ ङ। इनमें क शुद्ध अक्षर है और ख में कुछ और गर्म हवा मिलती। अंग्रजीमें भी के में एच मिलाकर ख लिखा जाता है, इसी प्रकार हिन्दीमें शुद्धमें थोड़ा जोर लगाकर ख लिखा जाता या बोला जाता। ग दूसरी चीज है, और घ को भी ग में थोडा जोर लगाकर बोला जाता। फिर कंठके बाद तालू आया, और वे अक्षर आये जो तालूकी प्रधानतासे बोले जाते, जैसे च छ ज झ ञ। इनमें भी वही क्रम मिलता। च शुद्ध अक्षर और उसमें थोड़ा जोर और लगाकर छ, ज अलग अक्षर और उसमें भी थोड़ा जोर लगाकर झ, ञ नासिकासे बोलते हैं, इसलिए उसे अंतमें पटक दिया। फिर आते ट ठ ड ढ ण, ये मूधासे बोले जाते। इनमें भी वही क्रम रहता और ण नासिकासे बोला जाता, इसलिए उसे अंतमें रख दिया। फिर दन्त आया, त थ द ध और न, ये दाँतकी प्रधानतासे बोले जाते। इनके बोलनेमें भी वही क्रम आता। इनमें भी न नासिकासे बोला जाता, इसलिए अंतमें रखा गया। फिर ओंठके सम्बंधसे बोले जाने वाले अक्षर प फ भ ब भ म ये अक्षर आते। इनमें भी वही क्रम होता, और म नाकसे बोला जाता।

अन्तःस्थ और ऊष्मवर्णोंके क्रमका रहस्य—फिर आते य र ल व। वास्तवमें इनका क्रम है य व र ल, और ये दो स्वरोंके मिलनेसे बनते। इ और अ मिलकर य, उ और अ मिलकर व, ऋ और अ मिलकर र, लृ और अ मिलकर ल। इन्हें भी ऐसा बनाकर फिर अ निकालकर देखो। इनको २५ व्यञ्जनोंके बाद इसलिए रखा कि ये दो स्वरोंसे मिलकर बने हैं। दो स्वरोंके मिलनेके कारण वे स्वरकी जातिके न रहे, और व्यञ्जनों जैसे लगनेपर भी शुद्ध व्यञ्जन न थे। अतः स्वरोंमें से निकालकर बाहर कर दिये गये और उन्हें व्यञ्जनोंमें २५ अक्षरोंके बाद स्थान मिला, और बोल निकालनेमें सुविधा य र ल व बोलनेमें लगी, इसलिए

Report any errors at vikasnd@gmail.com

इनका क्रम य व र ल न होकर य र ल व हो गया। फिर आते श ष स ह। इनको ऊष्मा कहते हैं। इनको बोलनेमें मुंहसे गर्म हवा निकलती है। ऐसे तेज हवा वाले अक्षरोंको अंतमें रख दिया है। श तालूसे बोला जाता है, इसलिए यह तालवी श कहलाता है, ष मूर्धासे बोला जाता है, इसलिए इसको मूर्धनी कहते हैं, स दांतोंकी प्रधानतासे बोला जाता है, इसलिए इसको दंती स कहते हैं।

संयुक्त पिण्ड व्यञ्जन और संयुक्त स्वर—फिर अंतमें जो अक्षर आते, वे है क्ष त्र ज्ञ। इनको अंतमें यों रखा गया, कहते कि ये तो कोई शब्द ही नहीं हैं। क और ष के सम्बंधसे क्ष बनता है, त और र के सम्बंधसे त्र बनता है, ज और ञ के सम्बंधसे ज्ञ बनता है। तो ये तो दो व्यञ्जनोंके सम्बंधसे बनते हैं, इसलिए कहते कि ये तो कोई शब्द ही नहीं हैं। इसलिए इनको अंतमें रखा गया है। इसी तरह स्वरोंमें भी ए ऐ ओ औ अं और अः आते हैं, परंतु कहते कि ये भी शुद्ध स्वर नहीं हैं, इसीलिए इनको भी स्वरोंमें अंतमें पटक दिया है। अ और इ के सम्बंधसे ए, अ और ए के सम्बंधसे ऐ, अ और उ के सम्बंधसे ओ, अ और ओ के सम्बंध से औ बनता है, फिर कहते कि अं और अः तो कोई स्वर ही नहीं हैं। यदि इन्हें ही स्वर माने तो और भी कई स्वर और बन सकते हैं। स्वरोंके उच्चारणमें नाकका जोर पड़ा व कंठ का जोर पड़ा, इसलिए ये अक्षर और बन गये। मुख्य स्वर तो अ इ उ ऋ और लृ ही हैं। इस प्रकार ये क्रम हिन्दी भाषाकी उत्पत्तिका है। इस तरह ये जो शब्द हैं, ये पुद्‌गल शब्द वर्गणाकी पर्याय हैं, पुद्‌गलके रस, रूप, गुण इसके गुण नहीं हैं।

इंद्रियोंमें विषयोंके युगपत् ग्रहणकी अयोग्यता—२३ वर्गणाओंमें शब्द वर्गणा एक अलग वर्गणा है। उन वर्गणाओंको यह शब्दवर्गणा बनाती है, परन्तु यह स्वयं भी एक पर्याय है, इसलिए इसको सबसे अन्तमें रख दिया। इस प्रकार स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये तो प्रधान हैं और शब्द अलग है। तो यह जो इन्द्रियज्ञान है, उसके द्वारा उसके ये सारे विषय एक साथ ग्रहणमें नहीं आ सकते, क्योंकि उसमें इस जातिकी क्षयोपशमकी अवस्था नहीं है। ऐसा वह इन्द्रियज्ञान जो स्वयं अपने विषयोंको ही एक साथ न जान पाये वह हेय ही है। पहले पूर्णतया इन्द्रियज्ञानको हेय बता दिया और उसकी हद कर दी। फिर भी आचार्य महाराज कहते कि इसमें एक और दोष है, वह यह कि वह इन्द्रिय ज्ञान एक साथ अपने विषयोंको भी तो नहीं ग्रहण कर सकता। जैसे कहते कि कोई आदमी अपने घरमें भी तो आरामसे, मित्रतासे नहीं रह सकती, इसी तरह इन्द्रियज्ञान अपने विषयमें भी तो एक साथ प्रवृत्ति नहीं कर सकता और की बात तो छोड़ दो। ५ इन्द्रियोंके जो विषय हैं, उनको यह आत्मा एक साथ नहीं करती, क्योंकि ऐसे क्षयोपशमका उपयोग युगपत् नहीं है, उसके अन्दरकी शक्ति क्रमसे चलती है। इसलिए इन्द्रियज्ञान अपने सारे विषयोंको क्रमसे जान

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पाता है ।

दृष्टान्तपूर्वक इन्द्रियोंकी क्रमप्रवृत्तिका समर्थन—जैसे लगता ऐसा है कि कौवेके दोनों आँखोंमें १ गटा याने एक तारा है । जल्दी-जल्दी आँखें चलनेकी वजहसे ऐसा लगता है कि दोनों आँखोंमें गटा तारे हैं । इसी प्रकार इन्द्रियोंके जाननेकी शक्ति अलग अलग है, इन्द्रिय-ज्ञान क्रमसे होता, परन्तु जल्दी-जल्दी काम होनेसे ऐसा लगता कि उसके सब काम एक साथ हो रहे हैं । परन्तु इन्द्रियज्ञानमें अपने विषयोंके पांचों इन्द्रियोंके काम एक साथ नहीं हो रहे । जैसे सौ पानोंको एक पिनसे छेदा जाता और एक छेद होनेके बाद ऐसा कहते कि एक साथ सारे पानोंमें छेद कर दिया, परन्तु वहाँ तो वह एक पानेमें छेद होनेके बाद दूसरे पानमें छेद होनेमें भी असंख्यात समय लग गया । उन असंख्यात समयोंका अन्तर्मुहूर्त होता । तो इन्द्रिय ज्ञानद्वारा जो उसके विषयक जानना हुआ वह न जाने कितने अन्तर्मुहूर्तमें हुआ ? इसलिए इन्द्रियज्ञानमें यह शक्ति नहीं है कि वह एक साथ सब ज्ञान कर सके । कौवेके तारेकी तरह तो उपयोग और आँखकी तरह ये इन्द्रियां । द्वार तो सब मौजूद हैं, परंतु उपयोगरूपी तारा तो क्रम-क्रमसे ही फिरा करता । वहां एक साथ सारी इन्द्रियोंके ज्ञानका बोध नहीं होता । जैसे कि किसी पशुसे विरोध था, तो वह उसे मारकर बेहोश कर देता और फिर हाथसे हिला हिलाकर देखता कि वह मरा कि नहीं, यदि उसमें थोड़ासा भी प्रतीत हो कि जीव है, तो वह उसके एक मामूलीसा घाव और कर देता, जिससे कि वह मर जाये । यहाँ दृष्टांतकी क्रूरतापर न जाकर शैली देखो । उसी तरह आचार्य महाराजने बड़े-बड़े घाव दे देकर यह बताया कि इन्द्रियज्ञान कितना हेय है, इसके बाद फिर हाथ लगाकर देखते कि अभी भी यह पूर्ण हेय सिद्ध हुआ कि नहीं, और अब फिर देखते तो पता लगता कि एक और दोष लगा कि यह एक साथ अपने विषयोंमें भी प्रवृत्त नहीं होता । तो यह भी एक घाव और लगा दिया कि यह तो हेय ही है ।

ज्ञानानुराग—यह प्रकरण सुखका चल रहा है और ज्ञानी अमृतचन्दसूरि महाराजको ज्ञानका इतना ध्यान है कि सुखका वर्णन करते हुए ज्ञानको भी बीचमें ले आते । सुखका वर्णन तो कर रहे हैं कि सर्व प्रकारसे उपादेय जो अनन्त सुख है, उसका उपादानरूप जो ज्ञान है वह केवलज्ञान है, जो एक साथ सारे पदार्थोंको जानता है । वह केवलज्ञान ही अनन्तसुख को भोगता है । इन्द्रियज्ञान एक साथ बहुत चीजोंको नहीं जानता, इसलिए वह हमारे सुखका क्या कारण होगा, वह अनन्त सुखका क्या कारण होगा ? इसका कारण तो अतीन्द्रियज्ञान ही है जो एक साथ सबको जानता है । अतीन्द्रिय ज्ञानकी कला सब जीवोंके अन्दर मौजूद है, सब अपने शुद्ध स्वभावको लिये हुए हैं, परन्तु रागद्वेष मोहके कारण जो विषय कषायोंकी रुचि है उसके कारण हमारा ज्ञान ढका हुआ है ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

सुधारका अवसर—इस प्रकरणसे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि रात दिन जो हम कल्पना कर रहे हैं, जिसमें हम एकदम पड़े हुए हैं या जिस प्रवाहमें हम पड़े हुए हैं उसमें न पड़ें और थोड़े रुकें और सोचे कि ये तो हमारे हितकी चीज नहीं हैं, तो ही हमारा कल्याण होगा। जब वस्तुकी स्वतंत्रताकी श्रद्धा आ गई तो सबको निश्चय हो ही जाना चाहिए कि एक दिन सबको इन विषयोंको छोड़ना ही पड़ेगा। यदि यह श्रद्धा हो जाय, तो ऐसे जीवोंको विषयोंमें श्रद्धा हो ही सकती है। जैसे किसीको राजा बनाया जाय और कहा जाय कि ६ महीने बाद तुमसे यह राज्य छीन लिया जायगा और तुम्हें वनमें ढकेल दिया जायगा, जहां तुम सड़-सड़कर मरोगे, तो उस ६ महीनेके राजाको अपने उस राज्यमें कैसी श्रद्धा होगी? वह तो यही सोचेगा कि मुझे तो ६ महीने बाद राजगद्दीसे उतारा जायगा व वनमें चला जाना पड़ेगा और वहां सड़-सड़कर मरना पड़ेगा। तो ऐसे आदमीको तो चाहिए कि वह अपने वन को ही इस ६ महीनेमें सुधार ले, जहां कि उसको अंतमें जाकर रहना है। इसी तरह जिस सम्यक्दृष्टिकी यह श्रद्धा हो गई कि ये पर्याएं तो छूट ही जाएंगी तो उसकी वर्तमानके विषयों में क्या श्रद्धा या क्या रुचि रहेगी? उसे तो उन्हें छोड़ना ही होगा तो जिसे इस तरह छोड़-कर एक दिन जाना है तो उस जानेके स्थानको अभीसे सुधारो तो सुखकी प्राप्ति होगी। यदि यहांसे अलग होकर ही जाना है तो हमें चाहिए कि हम हमारी परिस्थितिको मजबूत बना लें ताकि सड़-सड़कर न मरना पड़े। उस समय हमें कोई मदद नहीं करेगा। हमें अकेला ही जाना पड़ेगा। जो कुछ हम अपनी परिणति यहां सुधार लेंगे, उसीसे हमारा यह लोक और परलोक सुधरेगा। इसलिए हमें सबसे बुद्धि हटाकर अपने निज आत्मस्वरूपपर अपने ज्ञान स्वभावकी दृष्टि स्थिर करनी चाहिए। अतीन्द्रिय सुखका साधन अतीन्द्रिय ज्ञान है और उसी अतीन्द्रिय ज्ञानमें हमें अपनी बुद्धि लगानी चाहिए। इन्द्रियज्ञानको हेय समझना चाहिए।

आत्माकी ज्ञानस्वभावता—आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ज्ञानपुञ्जको ही आत्मा कहते हैं। इस आत्मामें जाननेका स्वभावसे सामर्थ्य है और जो जाननेका स्वभाव रखता है वह स्वतः जानता रहता है। इस जाननेमें यह भी अटक नहीं है कि यह वर्तमानको जाने, पासकी चीज को जाने, किन्तु जो भी सत् हो उस सबको जाननेका स्वभाव ज्ञानमें होता है। इन इन्द्रियोंसे ऐसा मालूम होता है कि हम सामनेकी बातोंको ही जान सकते हैं, आँखके सामने हो, उसे हम जानेंगे, पीछेकी हम कैसे जानेंगे, लेकिन जरा मनके द्वारा जो जानना होता है, उसकी भी तो बात बताओ। सामनेकी बातको जानते हैं, पीछेकी जानते हैं, भूतकालकी जानते हैं और भविष्यकी भी जानते हैं, चाहे वह सच निकले या न निकले, पर भविष्यकी जाननेकी अब भी प्रकृति तो है। चाहे कल्पना कर लो, कल्पना भी ज्ञानका ही रूप है।

विकारोंके कारण ज्ञानकलाके विकासमें रुकावट—निर्मल ज्ञप्ति कहनेका प्रयोजन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह है कि ज्ञानमें समस्त संतोंको जाननेका स्वभाव है, किन्तु कुछ ऐसी मलीमसता है इस आत्मापर कि इसके ज्ञानका यह स्वाभाविक विलास रुक गया है। जैसे किसी बहुत ऊँचे कलाकारको खेल करनेसे कोई रोक दे, तो बड़ी सुन्दर कलायें वह कर रहा था, कर सकता था, लेकिन रोकेसे रुका हुआ है, ऐसे ही समझिये कि आत्मामें जो विकार भाव उत्पन्न हुए, उन विकार भावोंने आत्माके ज्ञानको स्वाभाविक कलाको तिरोभूत कर दिया है, और ऐसी स्थिति बन गयी है कि यह इन्द्रियोंके निमित्तसे जान सकता है, सो सीमित जानेगा, सामनेकी जानेगा और क्रमसे जानेगा, पाँचों इन्द्रियोंसे एक साथ नहीं जान सकता। लगता ही है ऐसा कि हम देख भी रहे, सुन भी रहे, बोल भी रहे, सूँघ भी रहे और छू भी रहे, सभी काम एक साथ कर रहे हैं, लेकिन एक साथ नहीं हो रहे हैं, इतनी जल्दी-जल्दी इतने क्रम चल रहे हैं कि एक साथ लगते हैं।

परोक्षज्ञानमें युगपत् सबको जाननेकी अक्षमता—परोक्षज्ञानमें इतना जल्दी-जल्दी परिवर्तन हो सकता है कि इसका क्रम समझमें ही नहीं आयगा। जिस समय कभी अनेक तीर्थङ्करोंका एक साथ जन्म हो जाय, कोई भरतक्षेत्रमें पैदा हो, कोई ऐरावत क्षेत्रमें, कोई विदेह क्षेत्रमें, कोई घातकी द्वीपके, पुष्कर द्वीपके भरत ऐरावत विदेह क्षेत्रोंमें पैदा हो जाय तो जन्म कल्याणकका प्रबंध करने वाला मुख्य एक इन्द्र है सौधर्मइन्द्र। तो क्या उसे कोई ऐसा प्रोग्राम रचना चाहिए कि पहिले इस तीर्थङ्करका जन्म कल्याणक मनायें, पीछे दूसरे तीर्थंकरका, उसके बाद अन्य तीर्थङ्करका। एक साथ जन्मे हैं तीर्थङ्कर तो एक साथ ही समारोह होना चाहिए। उसमें कोई क्रम तो नहीं लगाना चाहिए। सौधर्मइन्द्रका जो मूल देह है, वह तो स्वर्गसे कभी आता ही नहीं है। जब आता है तब विक्रिया आती है। ऐसी परिस्थितिमें उसे उतने देह बनाने होंगे विक्रियामें जितने तीर्थङ्कर एक साथ जन्मे हैं, और उन वैक्रियक देहोंसे सब काम भी एक साथ होते हैं, देह तो रच डाले अनेक पर मन तो एक है, मन तो अनेक न हो जायेंगे। तो उन समस्त देहोंमें मन द्वारा क्रिया चलती है, और इतनी शीघ्रतासे चलती है कि क्रमका अंदाज नहीं रह सकता। अभी बिजलीका पंखा बहुत तेज चला दो तो उसमें तीन पंखुड़ी हैं, पर कुछ पता ही न पड़ेगा। कोई बहुत बड़ी बेसनकी तेलमें पपरिया बना दे कोई या खूब कड़कड़ा पापड़ हो और मुंहसे खाये तो वहाँ पाँचों बातें हो रही हैं। कड़ा लग रहा तो स्पर्श, खानेमें आ रहा है तो रस भी है, तेलकी बड़ी तेज गंध भी आ रही है, आँखों देख भी रहे हैं, चुर्र-चुर्रकी आवाज भी सुननेमें आ रही है, इससे और जल्दीका क्या दृष्टान्त लें। लेकिन वहाँ भी ५ प्रकारकी इन्द्रियोंका ज्ञान क्रमसे चल रहा है। तो इन्द्रियोंमें पदार्थोंका एक साथ ग्रहण करनेका सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि यह परोक्ष है।

इन्द्रियज्ञानमें प्रत्यक्षताके प्रतिषेधका निश्चय—परपदार्थोंका आश्रय लेकर जो ज्ञान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

होता है, वह परोक्षज्ञान है। तो यह इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, और जो प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, उसके साथ विशुद्ध सुख भी नहीं होता। यह प्रवचनसार ग्रंथ है, इसकी यह ५७वीं गाथा आ रही है। इसमें कुन्दकुन्दाचार्य देव यह बता रहे हैं कि इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा निश्चय करते। अमृतचंदजी सूरिकी प्रतिभा इतनी विशाल थी कि उनके एक-एक शब्दमें रहस्य छिपा है। गाथा बोलनेसे पहले भूमिकामें जो वे क्रिया रखते हैं, उसमें अनेक रहस्य होते हैं। अर्थ तो सामान्यतया एक है, "कहते हैं" अब हम यह विषय कहते हैं, पर कहते हैं को निश्चय करते हैं, उपलक्षित करते हैं, पास फेंकते हैं, उपसंहार करते हैं, अभिनंदन करते हैं, निन्दन करते हैं, कितने ही शब्द लगाते जाइये, भाव है—"कहते हैं।" तो इस गाथाकी भूमिकामें उत्थानिकामें यह कहा है कि इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा निश्चय करते हैं। निश्चय शब्दका अर्थ शाब्दिक दृष्टिसे देखा जाय तो पूरे तौरसे संग्रह करना अर्थ होता है। इसमें चिनु चयने धातु है, जिसका अर्थ है संग्रह, संचय, निश्चय। तो इन्द्रियज ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, ऐसे सब उठा-उठाकर जता-जताकर उसको रखते हैं, देखो यह इंद्रियज्ञान कहाँ प्रत्यक्ष, यह इन्द्रियज्ञान कहाँ प्रत्यक्ष ? यों इन्द्रियज्ञानका ढेर कर रहे हैं, और उसमें निर्णय कर रहे हैं कि लो कहाँ है प्रत्यक्ष। यों अब इन्द्रियज्ञानकी प्रत्यक्षताके प्रतिषेधमें सूत्रका अवतार होता है।

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावोत्ति अप्पणो भणिया।
उवलद्धं तेहिं कहं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥५७॥

परापरापेक्ष ज्ञानमें प्रत्यक्षताकी असंभवता—इन्द्रियाँ परद्रव्य हैं, आत्मतत्त्व तो नहीं हैं, आत्माका स्वभाव नहीं हैं। उन इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान किया जाय, वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? जो ज्ञान केवल आत्माको ही प्रतिनियत करके उत्पन्न हो, वह हो सकता है प्रत्यक्ष। केवल आत्मासे आत्माके ही आलम्बनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे तो प्रत्यक्ष कहते है, और किसी परपदार्थका आश्रय करके जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे परोक्ष कहते हैं। अगली गाथामें प्रत्यक्ष और परोक्षका लक्षण सविवरण कहा जायगा। तो जो आत्माका ही सहारा लेकर ज्ञान हो, वह प्रत्यक्ष है, लेकिन इंद्रियोंके निमित्तसे होने वाला ज्ञान तो इंद्रियसे उत्पन्न हुआ ना, सो वह ज्ञान परोक्ष है। वे इन्द्रियां पर हैं, ये आत्मासे भिन्न अस्तित्व रखती हैं, अतएव परद्रव्य कहलाती हैं। जो इन्द्रियाँ आत्माके स्वभावको रंच भी छू नहीं सकतीं, ऐसी इन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न हुआ ज्ञान आत्माका प्रत्यक्ष हो नहीं सकता।

परपरिहारमें आत्मोन्मुखतामें विकल्पविपदाओंकी समाप्ति—जैसे कोई पक्षी कुछ खानेकी चीज लिए हो और उसपर बीसों पक्षी उसे छुड़ानेके लिए झपटने लगें तो वह विह्वल हो जाता है। तो उसे केवल इतना ही भर काम करना है कि उस चीजको चोंचसे छोड़ दे।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लो पूरा विश्राम मिल गया। उस आक्रमणकी जो विपदा थी वह शान्त हो गयी। ऐसे ही हमपर बहुतसे विकल्पोंका आक्रमण हो रहा है। बड़े उलझनमें पड़ गए हैं तो हम जिन परतत्त्वोंका ग्रहण किए हैं उन्हें छोड़ दें और अकेले जैसे हैं ज्ञानस्वरूप वैसे ही रह लें तो सारी विपदाएं एक साथ खत्म हो जाती हैं। उस समय जो ज्ञान हो रहा है वह प्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्ष शब्दका अनेक पदोंमें प्रयोग—प्रत्यक्ष शब्दका भी अनेक प्रकारके ज्ञानोंमें व्यवहार होता है। प्रथम तो यही लो जो आँखों देखा उसे लोग प्रत्यक्ष कहते हैं। वाह मैंने तो प्रत्यक्ष देखा, मैंने तो प्रत्यक्ष सुना तो इसमें लोग प्रत्यक्षका व्यपदेश कहते हैं, यह है व्यावहारिक प्रत्यक्ष, कहना मात्र प्रत्यक्ष, रूढ़ि प्रत्यक्ष। वास्तवमें वह परोक्ष है, फिर उससे ऊंचे चलो तो मानसिक प्रत्यक्ष। मनके द्वारा जो समझा जाता वह तो सब घरेलू मामला जैसा लगता है। हमने बिल्कुल स्पष्ट जाना, वह भी मानसिक ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। इससे अब ऊँचे चलो तो जहां आत्माका अनुभव होता है स्वानुभवदशा, वहां न इन्द्रियका काम चल रहा है और न मनका काम चल रहा है। इन्द्रियका काम तो है ही नहीं। मनका काम अति निकटमें था लेकिन मनका तो काम विकल्प उत्पन्न करना है। यह तो निर्विकल्प अनुभूति है, यह स्वानुभव भी प्रत्यक्ष कहलाता है। फिर अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष कहलाता है और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष कहलाता है। तो प्रत्यक्ष शब्दसे अनेक जगह कहीं रूढ़िसे, कहीं एक देश सम्बन्धसे, कहीं स्पष्टरूपसे प्रत्यक्षका प्रयोग किया जाता है जो भिन्न है, परद्रव्य हैं, आत्माके स्वभावको रंच भी छू नहीं सकते, उन परद्रव्योंको ऐसे परइन्द्रियोंके द्वारा पा पा करके निकट लेकर उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है।

परोक्षज्ञानमें विडम्बनायें—इस प्रकरणमें यह वर्णन चल रहा है कि सुखका सम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञानसे है। पारमार्थिक सुख प्रत्यक्ष ज्ञानके साथ होता है, परोक्षज्ञानके साथ नहीं होता है। देखो सारी हँसी जैसी बात लग रही है लोकमें। सभी जीव कोई किसी कल्पनामें है, कोई किसी कल्पनामें है, कोई किसी तरहके दिमागका है और आधार किसीका भी सही नहीं है। तो सब मायारूप है, काल्पनिक है, पर यहाँ इन सबपर हंसे कौन ? सभी एकसे ढंग की कल्पनाएं करते, निराधार सोचते, कुछ अपना है नहीं और कल्पनामें अपना मानते हैं। कषायोंका रंग चढ़ा है, मेरा तेरा माननेका गहरा रंग छाया हुआ है। ये सब बातें उन्मत्त जैसी चेष्टाएँ हैं कि नहीं ? पर जहाँ सभी उन्मत्त हों वहाँ कौन किसे कहे ? जहाँ सबके ही मोहका और कल्पनाओंका रंग बन रहा है, वहाँ उनकी वृत्तिपर कौन हंसे ? और जो जानते हैं वे हँसने आते नहीं। उनके शुद्ध ज्ञान रहता है। तो अपनेको अपनी करतूतपर कुछ खेद होना चाहिए, कुछ अचरज भी होना चाहिए और कुछ उपेक्षा भी होनी चाहिए। यह हमारा परोक्षज्ञान अनेक विडम्बनाओंका कारण बन जाता है।

Report any errors at vikashd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परोक्ष और प्रत्यक्षके लक्षणोंका निर्देशन—अब परोक्ष और प्रत्यक्षका लक्षण उपलक्षित करते हैं अर्थात् कहते हैं। यहाँ कहने अर्थमें उपलक्षित शब्द आया है, जिसका भाव यह है कि लक्ष्य करनेके मायने तो देखना लोग कहते हैं ना, तुम हमारी तरफ बड़ी देरसे लख रहे हो, तो लखना लक्ष्यसे ही तो बना, और उपके मायने समीप है। चूँकि इस ज्ञान प्रकरण को कहने वाले और सुनने वाले भी सम्यग्दृष्टि लोग हैं तो उनको प्रत्यक्ष ज्ञानका भी परिचय है और परोक्ष ज्ञानकी तरफ लगे ही हैं। तो यह अपने आपके अंदर परोक्ष और प्रत्यक्षका लगाव कर रहे हैं। इस आशयमें कुन्दकुन्दाचार्यदेव गाथाकी उत्थानिकामें कहते हैं कि अब परोक्ष और प्रत्यक्षके लक्षणको उपलक्षित करते हैं।

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥

परोक्षज्ञान—जो विज्ञान परके निमित्तको पाकर उत्पन्न हुआ हो, वह परोक्ष ही कहलाता है। देखिये यह परोक्ष ज्ञान मन और इन्द्रियके निमित्तसे उत्पन्न होता है। तो मन क्या चीज है? वह भी शरीरका अंग है, पौद्गलिक रचना है, पुद्गल पदार्थ है, और इन्द्रिय क्या हैं? ये परद्रव्य हैं। इनका निमित्त पाकर जो ज्ञान बनता है, वह परोक्ष है, यह हमारा परोक्ष ज्ञान परके उपदेशका निमित्त पाकर होता है। तो इसमें उपदेशकी भी आधीनता है। यह उपलब्धिके संस्कारसे उत्पन्न हुई है। तो वह उपलब्धिका जो संस्कार है, वह भी परभाव है। प्रकाश आदिकके निमित्तसे उत्पन्न होता है। तो प्रकाश पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, इस निमित्तसे अपने विषयको प्राप्त हुए अर्थका जो परिच्छेदन है, ज्ञान है, वह परसे उत्पन्न होता हुआ परोक्ष है, ऐसा लक्षित किया जाता है। यह है परोक्ष ज्ञानकी बात।

प्रत्यक्ष ज्ञान—प्रत्यक्ष ज्ञानमें देखिए प्रत्यक्ष ज्ञान सभी प्रकारके परद्रव्योंकी अपेक्षा न रखकर उत्पन्न होता है, न यहाँ मनकी अपेक्षा रखना न इन्द्रियकी, न पर उपदेशकी, न उपलब्धिके संस्कारकी, न अलोक आदिककी। किसी भी परद्रव्यकी अपेक्षा न रखकर केवल आत्माके स्वभावको ही कारक रूपसे ग्रहण करके अर्थात् यह करने वाला है, इसीके लिये होना है। सब कुछ आत्मस्वभावके कारकरूपसे होने वाला जो द्रव्य पर्यायके समूहका परिज्ञान है, वह सब केवल आत्मासे उत्पन्न हुआ, अतएव प्रत्यक्ष कहलाता है। देखो अब अपने आपके स्वभावका आलम्बन करके अत्यंत समीप होकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ज्ञान सहज सुखका साधनभूत है। यही महाप्रत्यक्ष ज्ञान कल्याणार्थीको इष्ट है।

विश्वास्यताकी परख—इस प्रकरणसे हम आपको यह शिक्षा ग्रहण करना है कि हम परपदार्थोंमें तो विश्वास करें ही नहीं कि ये मेरे हितरूप हैं, ये मुझे सुख देंगे और इस देहमें भी विश्वास करना योग्य नहीं है कि यह देह भी मेरे लिए सुखकारी है और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हितकारी है । यह तो विश्वासके योग्य है ही नहीं, किन्तु जो हमारा इन्द्रियज्ञान है, जो चल रहा है बराबर, यह ज्ञान भी विश्वासके योग्य नहीं है कि यह हमारे हितरूप है । लेकिन किसी हद तक, किसी रूपमें हम इस इन्द्रियज्ञानको ही इस तरहसे प्रवर्तायें कि हम आत्म-हितमें बढ़ें और इन्द्रियज्ञानोंसे छूटकर आत्मीय अतीन्द्रिय ज्ञानको प्राप्त कर लें । आनन्दका सम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञानसे है, परोक्ष ज्ञानसे आनन्दका सम्बन्ध नहीं है, बल्कि परोक्ष ज्ञान हमारे आनन्दमें बाधक बनता है, जैसे कोई कोई लुटेरा कुछ थोड़ीसी सम्पदामें बहकाकर बड़ी निधिको लूट ले । ऐसे ही यह परोक्ष ज्ञान इन विषय सुखोंमें बहकाकर हमारे अनन्त आनन्द की निधिको लूट रहे हैं, मानो इस प्रकारसे अहितकारी है । हमें अपने योगपूर्वक भावपूर्वक इस आत्मप्रत्यक्षका आदर करना चाहिए और इस ही स्वभावमें मग्न होनेका यत्न करना चाहिये ।

जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थिदं विमलं ।
रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहंति एयंतियं भणिदं ।।५६।।

परोक्षज्ञानमें सुखका प्रतिषेध—पूर्व गाथामें परोक्ष और प्रत्यक्षका लक्षण कहा है । परोक्ष तो पराधीन ज्ञान है और प्रत्यक्ष स्वाधीन ज्ञान है । आनंदका सम्बंध प्रत्यक्ष ज्ञानसे है, परोक्षज्ञानसे नहीं है । जिस ज्ञानमें परविषयकी, परइन्द्रियकी, परप्रकाश आदिककी, पर उप-देश आदिककी अपेक्षा रहती है, उस ज्ञानमें तो व्यग्रता रहा करती है । न इष्ट साधन मिले तो व्यग्रता, इष्ट साधन जुटानेकी व्यग्रता, नाना तरहकी व्यग्रता वहाँ आनंद नहीं है,

प्रत्यक्षज्ञानमें आनन्दका सद्भाव—जो ज्ञान सर्वविकल्पोंको त्यागकर केवल शुद्ध सहज निज भावका आश्रय करता है, उसको कोई पराधीनता नहीं और ऐसा ज्ञान अपने आपके ज्ञानस्वभावसे मिलकर स्वभावतः विशुद्ध परम आनन्दका अनुभव करता है, यह ही प्रत्यक्ष ज्ञान पारमार्थिक सुखरूपसे है, ऐसा इस गाथामें कहा जा रहा है । जो ज्ञान स्वयं उत्पन्न हुआ है, जो ज्ञान चारों ओरसे समस्त पदार्थोंको जानता है, जो ज्ञान परिपूर्ण है, अनंत अर्थमें विस्तृत फैला हुआ है, जो अत्यंत निर्मल है, जिसमें अवग्रह, ईहा, अवाय आदिक अपूर्ण-ताएँ और क्रमादिक दोष नहीं हैं वह प्रत्यक्ष ज्ञान ही स्वयं कह लीजिए, आनंदस्वरूप है, ऐसा दृढ़ निश्चय किया जा रहा है, आनंद तो अनाकुलतास्वरूप है, जहाँ आकुलता नहीं है, वही वास्तवमें सुख है ।

परोक्षज्ञानमें परतन्त्रता—अब देखिये जो ज्ञान परसे उत्पन्न हुआ है, परइन्द्रियका निमित्त पाकर होता है, वह तो पराधीन रह गया, और पराधीनतामें आनंद और शांति नहीं होती, लेकिन मोही जीव उन पराधीनताओंमें ही स्वाधीनताकी कल्पना करते हैं । जैसे खुदका अच्छा घर है, आजीविका भी अच्छी चलती है, कुटुम्बके लोग भी बड़े समझदार हैं, सब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

प्रकारके सांसारिक आराम हैं, ऐसी स्थितिमें यह मनुष्य कहता है कि हम तो आजाद हैं, आजादीसे रोटी खाते हैं, चैनमें रहते हैं, मगर बतावो तो आजादी है कहाँ ? भले ही खुदका घर है, आजीविका बढ़िया है, परिजन भी समझदार हैं, सब कुछ बात भली है, लेकिन आजाद तो मत कहो कि हम स्वतंत्र हैं, बेफिक्र हैं, हमें तो आजादी मिल गई है, जिस ज्ञानमें इंद्रिय की आधीनता है, जो ज्ञान परपदार्थोंको विषय करके कल्पनाएं किया करता है, उस ज्ञानको आजादी है कहाँ ? ऐसी आजादी मानने वाले लोग भी पद-पदपर अपनेको परतंत्र अनुभव किया करते हैं, क्लेशानुभव किया करते हैं ।

असज्ज्ञानमें क्लेशकी प्राकृतिकता—जो अपनेको भली स्थितिमें मान ले, और स्थिति भली हो नहीं तो उसे भी क्लेश होता है। कोई विपदामें है और मान ले कि हम विपदामें पड़े हैं, तो विपदामें रहकर भी वह उतना क्लेश न मानेगा, और अपनेको मौज वाला मान रहा है और उसे विपदा आ जाय, तो उसे जो क्लेश होगा, विपदा वालेको न होगा । किसी गरीबको उतना क्लेश नहीं है, जितना धनिकको कुछ थोड़ीसी हानि होनेपर हुआ करता है । मुकाबला करो तो अब भी गरीबसे हजारगुना धन है, पर धनसे तो सुख दुःख नहीं है, सुख दुःख तो कल्पनाओंपर चलता है । जगतके समस्त पदार्थ विनाशीक हैं और कोई मान ले कि ये तो मेरे हैं, सदा रहेंगे तो उसे बड़ा क्लेश उठाना पड़ता है, और रह रहा है घरमें और अपनी सच्ची श्रद्धा बनाये है, घर तो कभी छूटेगा, ये समागम तो कभी अचानक बिछुड़ेंगे, तो उसे कष्टका सामना कम करना पड़ेगा । तब तो बस यही बात आयगी कि लो देख लो ना, जो हम जानते थे, सो ही हो गया । वह अनहोनी तो न बतावेगा । जो पुरुष पराधीन दशामें अपनेको आजाद समझकर मौजमें रहते हैं, वे पुरुष अवश्य दुःखी होंगे ।

परोक्षज्ञानके प्रति ज्ञानीको खेद—ज्ञानी जन परोक्षज्ञानमें खेद किया करते है कि यह पराधीन ज्ञान है, इसमें कहाँ मौज है ? जिसके बड़ा विवेक भी जगा, ज्ञान भी जगा, फिर भी यह आत्मप्रत्यक्षज्ञान नहीं हो पाया, यह स्वानुभव जो निरर्गल ज्ञानविकासके लिए उद्यत रहा करता है, ऐसी स्थिति नहीं बन पाई, इसका खेद होता है । ये सब ज्ञान हो रहे हैं, ठीक है, पर इन इंद्रियजन्य और मानसिक ज्ञानोंसे अपने आपको परतंत्र समझकर इसमें भी जिसका मन नहीं लगता, कहाँ तो ऐसी ज्ञानियोंकी बुद्धि और कहां मोहियोंकी कुमति कि जो घर वैभव आदिक जड़ पदार्थोंके समागमको पाकर ऐसा मौज मान रहे हैं कि हम तो आजाद हैं, सुखी हैं, भरपूर हैं, सब कुछ ठीक है । अरे कुछ भी ठीक नहीं है । ठीक तो आत्माकी निर्मल दृष्टिमें होगा । तो जो ज्ञान परसे उत्पन्न हुआ है, वह तो पराधीन है, ऐसे ज्ञानमें तो आकुलता ही है, अथवा यों कह लीजिए कि ऐसा ज्ञान तो आकुलित ही होता है । हम दुःखी हो रहे हैं, इसका दूसरा भाव यह है कि ज्ञान दुःखी हो रहा है ।

Version 1

ज्ञानके सम्बंधमें नयविभाग—एक दृष्टिमें देखो तो ज्ञानका स्वरूप दुःखरूप परिणमना है ही नहीं, इसलिए यह कह दो ज्ञान न कभी सुखी होता और न कभी दुःखी होता। मेरा ज्ञान तो ज्ञाननमात्र है। जितनी चाहे बातें समझते जाइये, नयविभाग है। जो ज्ञान परसे उत्पन्न होता है वह तो अत्यन्त आकुल है। ये परोक्षज्ञान हमारे सब परसे ही उत्पन्न होते रहते हैं। तो यह यद्यपि ज्ञानपरिणमन आत्मासे ही जगा है परंतु निमित्त पाये बिना ऐसा ज्ञानपरिणमन नहीं होता है इसलिए परसे उत्पन्न हुआ कहते हैं और जो श्रुतज्ञान आत्माका हित करनेमें कारण है वह भी यद्यपि परसे उत्पन्न हुआ है, लेकिन परसे उत्पन्न नहीं होता ऐसे ज्ञानकी प्राप्तिके लिए जो ज्ञान जगा है वह परसे उत्पन्न होकर भी कुछ शान्तिके लिए बनता है। जिस ज्ञानमें पराधीनता भी है, दृष्टि भी मलिन है उस ज्ञानमें तो आकुलता ही आकुलता है। जिस ज्ञानमें पराधीनता तो जरूर है, पर दृष्टि निर्मल हो गयी है तो उस ज्ञान में आकुलता कम हो जाती है।

असमंत व कतिपयार्थ प्रवृत्त परोक्षज्ञानमें आकुलता—जो ज्ञान समस्त नहीं है, परिपूर्ण नहीं है, अधूरा है, उसके अन्य ज्ञानद्वार रुक आवृत हो गये हैं, वहाँ क्षयोपशम विशेष नहीं है, इससे वह परोक्षज्ञान आकुलित रहता है। जो ज्ञान कुछ ही अर्थमें प्रवृत्त हुआ है उस ज्ञानमें अन्य अर्थोंके जाननेकी जो इच्छा है, भोगनेकी जो भूख है उसके कारण वह ज्ञान आकुलित रहता है। अभी कोई रोकड़बहीका ही हिसाब कर रहा हो, एक आनेका फर्क रह गया, हिसाब नहीं मिलता तो कहो उसके पीछे ४ आनेकी बिजली फूँक दें। पर उस एक आनेको जाननेकी एक उत्सुकता रहेगी, नहीं तो कोई बड़ी बात है, एक आनेकी जगह पर एक रुपया डाल दें, अगर कम होता है तो। पदार्थोंके जाननेकी जो इच्छा है और उनके अनुभवने की जो बुभुत्सा है उससे यह ज्ञान आकुलित रहता है। घरका बड़ा आदमी बाजारसे थैला हाथमें लिए हुए घर आये, तो लाये चाहे कोयला ही हो, पर घरके जो बच्चे होंगे वे थैलेमें टटोलकर देखे बिना न मानेंगे। चाहे उनके कुछ कामकी भी चीज न हो और रोज-रोज भी उनके कामकी चीज नहीं मिलती, मगर देखे बिना चैन नहीं है। हम आप कहीं बैठे हों, सामनेसे जो भी लोग निकलते हैं उनसे प्रयोजन कुछ नहीं है मगर झांके बिना, जाने बिना माना नहीं जाता। हवाई जहाज रोज उड़ते हैं, बाहर खुलेमें बैठे हों तो उड़ते हुए जहाजको देखे बिना चैन नहीं पड़ती। तो देखनेकी क्या पड़ी है? जब ज्ञान अधूरा है, असमस्त है, कुछ अर्थमें लगता है इसलिए यह इच्छा बनी रहा करती है कि मैं और जानूं। केवलज्ञानमें समस्त पदार्थ झलका है, जाननेको कुछ रह ही नहीं गया, अतएव उनके आकुलताका नहीं रहती है। तो जो ज्ञान अधूरा है, असमस्त है, परोक्ष है वह ज्ञान तो आकुलित ही रहा करता है, क्योंकि जाननेका द्वार रुक गया है। तो जो असमस्त है और कुछ भी अर्थमें लगा करता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है उस ज्ञानमें विह्वलता है ।

दृष्टिविभागसे ज्ञानके जीवनकी झांकी—अभेदविवक्षासे यह कहा गया है कि आत्मा क्या आकुलित रहता है ? ज्ञान आकुलित रहता है, आत्मामें और ज्ञानमें चूंकि भेद नहीं है और जितना जो कुछ भी करने धरनेका परिणमनका प्रसङ्ग है, वह सब ज्ञानके नाते ही जाना जाता है और बताया जाता है । ज्ञानमें दुःखका अनुभव हुआ तब आत्मा दुःखी हुआ । तो उस क्लेशरूप अनुभवन करने वाला ज्ञान है । यों गुणगुणीके अभेदमें ज्ञानको आकुल कहा है, और जब स्वरूपदृष्टि करें तो ज्ञानका काम तो मात्र जानन है, उसमें आकुलताकी बात कहाँ है ? तब उस विशुद्ध दृष्टिमें यह तक कहा जायगा कि मिथ्यादृष्टिका भी ज्ञान मिथ्या नहीं है, उसमें भी आकुलता नहीं है, जो जानन है, उसका जाननमात्र ही काम है ।

समल ज्ञानमें आकुलता—जो ज्ञान समल है, मलिन है, रागद्वेषसे युक्त है अथवा ज्ञानावरणादिक कर्मोंका विशेष आवरण है, भली प्रकारसे जान नहीं सकता, तो यथार्थ न जाननेके कारण वह ज्ञान आकुलित रहता है । किसीसे कोई पहेली पूछी जाय, इस पहेलीका उत्तर दो तो जब तक उत्तर नहीं आता है तब तक क्या दशा हो जाती है ? कैसा दिमाग, कैसी विह्वलता उसका यथार्थ बोध न होनेसे आकुलता होती कि नहीं होती ? तो असमंतमें सम्यक् बोध न होनेके कारण आकुलता रहती है ।

क्रमप्रवृत्त ज्ञानमें आकुलता—जो ज्ञान अवग्रह, ईहा अवाय, धारणा—ऐसे क्रमरूप ग्रहण करता है, तो क्रमसे जो अर्थ ग्रहण होता है, उसमें खेद होता है । ज्ञानमें जाननेकी इतनी निरर्गल विकासकी प्रकृति पड़ी हुई है कि वह यह गम खानेको तैयार नहीं है कि थोड़ा हमने जाना, चलो कल जान लेंगे । यह तो चाहता है कि सब अभी जाननेमें आ जाय । ज्ञानकी ओरसे कोई गम नहीं है, ज्ञानकी प्रकृति है कि सबको जाने और एक साथ जाने । पर जब क्रमसे अर्थ ग्रहण हो रहा हो उसमें खेद उत्पन्न होता है । तो ये सब अवगुण परोक्ष ज्ञानमें है । तो परोक्ष ज्ञान तो आकुलित रहता है, इस कारणसे परोक्ष ज्ञान परमार्थदृष्टिसे सुखस्वरूप नहीं है ।

स्वाधीन प्रत्यक्षज्ञानमें अनाकुलता—परोक्षज्ञान तो सुखरूप नहीं है, किन्तु इस प्रत्यक्ष ज्ञानको देखिये—यह सर्व ओरसे परिपूर्ण सुखस्वरूप है । यह प्रत्यक्षज्ञान स्वयं उत्पन्न हुआ है, इसमें इंद्रिय मन प्रकाश विषय पदार्थ उपदेश किसीकी भी उपेक्षा नहीं है, यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अपने ही उस सहज ज्ञानकलासे अपने आपमें ही उन्मुख होकर यह जान रहा है, तो उसमें किसीकी भी आधीनता नहीं है । स्वयं जायमान है, और किस प्रकार जायमान है कि जो ज्ञान सामान्य स्वभाव है, उसके ऊपर उसके परिणमनमें महान विकासरूपसे फैलकर व्यापकस्वरूप उत्पन्न हुआ है । जैसे कोई सूखा चूनेका ढेला होता है, तो वह शीत वातावरणमें स्वयं

Version 1

अपने आपमें अपने ही ऊपर अपने ही विकाससे फैलकर फैल जाता है, ऐसे ही जब विकारका आक्रमण है, ऐसा शांत वातावरण है, तो उसमें यह आत्मा, यह ज्ञान इस ज्ञानशक्तिके ऊपर इस ज्ञानशक्तिके ही महाविकासरूपसे फैलकर स्वयं उत्पन्न हो जाता है। यह प्रत्यक्षज्ञान ऐसा स्वाधीन है। तो जो आधीन है, उस ज्ञानमें आकुलताका काम नहीं है।

समंत ज्ञानमें समंत आनन्द—जो प्रत्यक्ष ज्ञान समंत आत्मप्रदेशोंसे पूर्ण समक्ष ज्ञानोपयोगी होकर सर्वको फैलकर उत्पन्न होता है वह ज्ञान समंतज्ञान है। इस विशेषणसे यह भी अन्तर ज्ञात होता है कि हमारे परोक्षज्ञानमें यद्यपि ज्ञानमय आत्मा होनेके कारण पदार्थोंमें ज्ञान जगता है पर परोक्षज्ञानमें उन समंत आत्मप्रदेशोंमें एक आनन्दानुभूति अथवा तरंगोंका अनुभव-सा होता हुआ नहीं होता है, तभी तो ये भेदव्यवहारमें प्रसिद्ध हो गये कि दिमागसे तो जाना जाता है, आँखोंसे देखा जाता है, प्रतिनियत अङ्गोंसे ज्ञान प्रकट होता है ऐसी प्रसिद्धि हुई है। यह परोक्ष ज्ञान होनेके कारण आत्मप्रभुकी विडम्बनाकी बात बन रही है, बनाई जा रही है। जो ज्ञान समंत चारों ओरसे स्पष्ट प्रकट है और चारों ओरके प्रकाशको अभिव्याप्त करके प्रसिद्ध है उस ज्ञानमें आकुलता नहीं है। कहते हैं ना—अधजल गगरी छलकत जाय। पूरा पानी भरा हो तो नहीं छलकती। जहाँ सर्वप्रदेशोंमें प्रत्यक्ष ज्ञानमय अनुभव हो रहा है, वहां परम आनन्द प्रकट है।

निष्कलुषज्ञानमें विलक्षण आनन्द—एक बात देखी होगी किसीको इन्द्रियजन्य सुखके भोगते हुएमें सारे शरीरमें रोमांचसा प्रकट नहीं होता। किन्तु किसी तत्त्वज्ञान अथवा अभूत पूर्व बात या किसी विशिष्टज्ञानके समय जो आनन्द उत्पन्न होता है वह आत्मामें तो तरंगित होकर होता ही है, पर शरीरमें भी एक रोमाञ्चसा हो जाता है। कितना ही बढ़िया हलुवा कोई खाये पर उसके सुखके कारण शरीरके रोंगटे खड़े नहीं होते। कोई भी इन्द्रियसुख भोगा जाय तो उससे शरीरमें रोमाञ्चसा न होगा और कोई विशिष्ट जातिका ज्ञान बन जाय तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जिसका इन्द्रिय सुखसे सम्बन्ध नहीं है ऐसा कोई विलक्षण ज्ञान उत्पन्न होता है तो हम आपके भी रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। इससे भी यह अन्दाज करलो कि जो ज्ञान अपने समस्त प्रदेशोंमें ज्ञानप्रकाशका अनुभव करता हुआ होता है वह अनाकुल होता है, परिपूर्ण आनन्द वाला होता है। तो यह समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष अनाकुल है। जो ज्ञान अनन्त अर्थमें विस्तृत है, जिसने समस्त वस्तुवोंके ज्ञेयाकारको पी लिया है अर्थात् समस्त सत् जिस ज्ञानमें ज्ञात हो गए हैं, ऐसी परम विनश्वररूपताको प्राप्त करके अर्थात् लोकालोक व्यापकरूपसे जो व्यवस्थित है उस ज्ञानमें चूँकि समस्त सत् आ गए इसलिए किसी भी सत्को जाननेकी भोगनेकी, अनुभवनेकी इच्छा नहीं होती, अतएव वह महाप्रत्यक्षज्ञान अनाकुल है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रत्यक्षज्ञानमें निर्दोषता व अनाकुलता—जिस ज्ञानमें पूर्ण विकास है, समस्त शक्तियों का प्रतिषेध करने वाले कर्म जहाँ हट गए हैं, समस्त ज्ञानप्रकाशसे जो देदीप्यमान है, अपने स्वभावको व्याप करके जो उत्पन्न हुआ है, ऐसा निर्मल ज्ञान यथार्थ बंधके कारण अनाकुल रहा करता है। उस केवलज्ञानमें, प्रभुके ज्ञानमें जो कि एक साथ सभी त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थ ज्ञात हो गए हैं अथवा पदार्थ क्या ज्ञात हो गए हैं ? ऐसा ज्ञानरूप परिणमता हुआ आत्मस्वरूप जहाँ केवल दर्शनके द्वारा अवलोकित हो रहा है, उस ज्ञानमें क्रम कैसे बने ? सभी पदार्थ ज्ञानमें आ गए, तो जहाँ क्रमको ग्रहण करनेका खेद भी नहीं रहता, वह प्रत्यक्षज्ञान निराकुल होता है।

प्रत्यक्षज्ञान और आनन्दकी आदेयता—हम अपने इन्द्रियजन्य ज्ञान और इंद्रियजन्य सुखमें मौज न मानें—यह शिक्षा इस गाथामें मुख्यतया दी गई है। अतीन्द्रियज्ञान, सहज ज्ञान, बिना श्रमके अपने आप उत्पन्न हुआ ज्ञान और बिना ही श्रमसे अपने आपमें अनुभूत हुआ आनंद वही उपादेय है, पराधीन बन-बनकर अयथार्थको यथार्थ बनानेका श्रम कर करके आनंद और शांति प्रकट नहीं हो सकती। ऐसा प्रत्यक्षज्ञान ही जो स्वयं उत्पन्न हुआ है, समंत है, अनन्त अर्थोंको जानता है, निर्मल है, जिसके अंदर क्रम नहीं है। ऐसा ही ज्ञान सुखस्वरूप है, ऐसा ही निर्णय करके अपने आपमें उस सुख और ज्ञानके स्रोतरूप चैतन्यस्वभावका अवलम्बन करना चाहिए। इस ही परमब्रह्मकी उपासनाके प्रसादसे हम आपके संसारके सारे संकट छूट सकते हैं।

केवलज्ञानकी आनन्दरूपतापर एक जिज्ञासुकी आशङ्का—इस गाथामें यह कहा गया कि बिना इंद्रियके सहारे, बिना आलोकादिक निमित्तके, अपने आप अपने ही ज्ञानस्वभावके ऊपर विकासरूपसे फैलकर जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है आत्मप्रत्यक्ष उसके साथ आनंदका सम्बंध है, परोक्ष ज्ञानके साथ आनंदका सम्बंध नहीं है। इस बातको सुनकर एक जिज्ञासुके चित्तमें यह आशङ्का उत्पन्न हुई कि प्रभुके केवलज्ञान भी हो गया, केवल आत्मा रह गया, सारे लोकालोकको जानने वाला वह ज्ञान है, लेकिन क्या वह केवलज्ञान कूटस्थ नित्य है ? क्या प्रतिसमयमें नया-नया वहाँ परिणमन नहीं होता है ? प्रति समय परिणमन होता रहना तो वस्तुका स्वभाव है। अगर प्रति समय परिणमन न हो तो वहाँ आत्माका ही अभाव हो जायगा, इस कारण प्रति समय परिणमन मानना तो अति आवश्यक है, और परिणमन होता ही है। जब परिणमन वहाँ चलता है, तो परिणमन होनेके नाते उनके भी खेद होना चाहिए, केवलज्ञान होनेपर भी चूंकि प्रतिसमय केवलज्ञानरूप परिणमन चलता रहता है, अर्थात् इस समयके केवलज्ञानके बाद दूसरे समयमें नये केवलज्ञानरूप पर्याय होती है, और प्रतिसमय नवीन-नवीन ज्ञानपरिणमन होता रहता है। भले ही उस ज्ञानपरिणमनमें विषय परिवर्तन

Version 1

नहीं होता अर्थात् तीन लोक और अलोककी त्रिकालवर्ती पर्यायोंको जैसा इस समयके ज्ञानने जाना, वैसा ही अगले समयका ज्ञान जाने, इतनेपर भी प्रतिसमय उस द्रव्यका परिणमन तो है ही। तो जहाँ परिणाम है, परिणमन है, वहाँ खेद होना सम्भव है, फिर केवलज्ञानकी अवस्था नियमसे सुखरूप ही है, वहाँ आनंदरूपता ही है, ऐसा क्यों कहा जा रहा है ? मेरे ख्यालसे तो केवलज्ञानमें भी चूँकि परिणमन होता है तो खेद सम्भव है। अतः नियम नहीं बना सकते कि वहाँ आनंद है, ऐसी एक जिज्ञासुके चित्तमें आशंका उत्पन्न होती है, उसका प्रतिषेध करते हुए समाधान दिया जा रहा है।

जं केवलत्ति णाणं तं सोक्खं परिणमंति सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घाती स्वयं जादा ॥६०॥

केवलज्ञानकी आनन्दरूपतापर जिज्ञासुकी आशङ्काका समाधान—जो केवलज्ञान है, वही तो सुख है और वही एक परिणमन है अर्थात् वह परिणमन ही ज्ञानरूप और सुखरूप है, वहाँ खेदकी क्या बात है, क्योंकि वहां घातिया कर्मोंका अभाव हो गया है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय, इन चारों घातिया कर्मोंका क्षय हो गया है। ज्ञानावरण के क्षय हो जानेसे समस्त परिपूर्ण निर्मल ज्ञान प्रकट हुआ है, दर्शनावरणके क्षयसे अनंत केवल दर्शन प्रकट हुआ है और मोहनीयके क्षय निर्मोहता प्रकट हुई है, वही सुखरूप अवस्था है, और अंतरायके क्षयसे पूर्णशक्ति प्रकट हुई है, जहाँ अनंत चतुष्टयरूप अवस्था है, वहां खेदका क्या काम ? ज्ञान प्रति समय नवीन-नवीन होता रहता है, तो वही ज्ञान जो इस समयमें परिपूर्ण आनंदरूप है, तो दूसरे समयमें भी जो केवलज्ञान हुआ, वैसा ही तो ज्ञान हुआ, वैसा ही आनंदरूप परिणमन हुआ। परिणमन होते जावें अनंत केवलज्ञानके भी, लेकिन वे अनंत ही परिणमन केवलज्ञानरूप हैं और अनंत आनंदरूप हैं। वहां खेदका कोई काम नहीं है।

केवलज्ञानकी आनन्दरूपताकी आशङ्काके समाधानका विवरण—अब इस समाधान को प्रश्नोत्तरके रूपमें और स्पष्टतासे कहते हैं। यह तो बतावो कि खेद नाम किसका, और यह बतावो कि केवल रहना और आनंदरूप रहना, इनमें कुछ अंतर है क्या ? एक सही समाधान मिलनेपर बात स्पष्ट हो जायगी कि केवलज्ञानमें भी आनंदका ऐकान्तिक नियम है या नहीं ? जिज्ञासुने जो यह आशङ्का रखी थी कि केवलज्ञानीके नियमसे आनद होता, यह बात नहीं घटती, आनंद नहीं है तो खेद है, खेद नाम किसका है ? और क्या तुम्हारी दृष्टिमें ज्ञानरूप रहना और आनंदरूप रहना, ये क्या दो भिन्न स्थितियां हैं, इसपर विचार करो। खेद नाम तो घातिया कर्मोंके उदयमें जो एक इष्ट अनिष्टकी कल्पना होती है, विषय परिवर्तन होता है, उसका है। पर घातिया कर्मोंका जहां उदय नहीं रहा और इसी कारण न तो विषय परिवर्तन है और न इष्ट अनिष्ट कल्पनाएं हैं, तो वहां खेद कैसे होगा ? केवलज्ञानमें तुम खेद

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की कल्पना करते हो तो कारण भी बतावो । केवल परिणाम मात्र खेदका कारण नहीं हुआ करता । कोई पर्याय है, और उसके बाद फिर पर्याय हुई, तो पर्यायोंका होते रहना, यह खेद की बात नहीं है, यह तो वस्तुका स्वरूप है ।

केवलज्ञानीके परिणाममात्रसे खेद न होनेकी पुष्टि—यहां तो संसार अवस्थामें विभिन्न अनेक परिणमन चलते रहते हैं, पर्यायें बदलती रहती हैं तो पर्यायोंके बदलते रहनेका कार्योंसे खेद यहां भी नहीं है, किन्तु घातिया कर्मोंका उदय होनेसे जो इष्ट अनिष्ट कल्पनाओं आदिक रूप परिणमन होता है, वह खेदका कारण होता है । जैसे किसी पुरुषसे कोई काम बिगड़ जाय मित्रका, तो मित्र वहां यह कहता है कि यह काम बिगड़ गया इसका खेद नहीं है, किन्तु तुम्हारे परिणाममें हमारा विरोध आ गया, इसका खेद है । तो यों सांसारिक जितने भी परिणमन होते हैं, उनमें भी बदलते रहना इससे खेद नहीं है, किन्तु जो मोह रागद्वेषकी तरंग उठ रही है, इससे खेद होता है । हां, यह बात जरूर है कि जहां मोह रागद्वेषकी तरंग होती है, वहां सांसारिक परिणमन भी इस प्रकारका चलता रहता है, पर विश्लेषण करके यदि देखो तो परिणमन होते रहनेसे खेद नहीं है, किन्तु आशयमें मलिनता आनेसे खेद है, यह तो सांसारिक अवस्थाओंकी बात कह रहे हैं । पर युक्त अवस्थामें तो सांसारिक अवस्थाओं जैसा परिणमन होता ही नहीं है वहां तो जैसा परिणमन अब है वैसा ही परिणमन आगे है, और अनंतकाल तक वैसा ही परिणमन होता रहेगा, वहां तो कल्मषता भी लेश नहीं है, वहां खेद का अवसर ही कहां है ?

केवलीके समान परिणमनसे आनन्दरूपताकी पुष्टि—शुद्ध अवस्थामें भी यद्यपि वही-वही परिणमन नहीं है, किन्तु वैसा ही वैसा परिणमन तो है । जैसे कोई बिजली १५ मिनट तक जले तो १५ मिनटके जितने सेकेन्ड हैं, सभी सेकेन्डोंमें एकसी बिजली जली, प्रकाश एक सा ही हुआ, लेकिन प्रति सेकेन्डमें बिजलीने नया-नया काम तो किया, वह नया काम समान है । इस कारण भेद नहीं जंच रहा, यदि वह बिजली नया-नया काम प्रति सेकेन्ड नहीं करती, तो फिर मीटर कैसे बढ़ जाते हैं ? प्रति सेकेण्ड उस बिजलीका नया-नया काम है । इसी प्रकार केवलज्ञानके द्वारा भी प्रति समय यद्यपि जानते हैं वही समस्त सत्, जो जाना वही फिर जाना, लेकिन परिणमन तो नया-नया है । तो परिणमन मात्रसे खेद नहीं होता, वह तो एकदम समान परिणमन है । दूसरी बात उस केवलज्ञानमें, कैवल्य अवस्थामें और आनंदरूप परिणमनसे कोई आधार भेद नहीं है, कोई व्यतिरेक नहीं है, वही है तो जैसे यों कह लो कि प्रतिसमय प्रभु केवलज्ञान केवलज्ञानरूप परिणमते रहते हैं, तो यों कह लीजिए कि प्रति समय प्रभु आनंदरूप आनंदरूप परिणमते रहते हैं, खेदका वहाँ कहां अवसर है ?

Version 1

खेदका निदान—खेद किस प्रकार होता है, उसका विवरण सुनिये । घातिया कर्मोंमें जो मोहनीय नामक कर्म है, यह महान मोहका उत्पादक निमित्त है, मोहनीयके उदयमें मोह परिणाम बना और मोह परिणाममें यह जीव उन्मत्तकी तरह जो जैसा नहीं है, उसके वैसी बुद्धि करने लगता है । जैसे पागल लोग पदार्थ और भांति है, बुद्धि और भांति करते हैं । जैसे प्रसिद्ध बात है कि पागल कभी मां को स्त्री कहने लगते, और कभी स्त्रीको मां कहने लगते, अथवा नाना प्रकार बकने लगते हैं । जो बात जैसी नहीं है, उसको उस रूपसे कहना, यही तो पागलपन है । जैसी बात है, वैसी ही कह दे, उसे तो स्वस्थ बुद्धि वाला कहेंगे । तो जब मोहनीय कर्मका उदय है, तो इस जीवमें महामोह, उत्पन्न होता, उससे जो अतत् है, उसमें तत्की कल्पनाएं हुईं । जैसे ये सब शरीर तो हैं जड़ और मान लें अजीव अथवा सब परपदार्थ हैं तो भिन्न, उनका परिणमन उनमें ही परिसमाप्त होता है, लेकिन यह मानता है कि अमुक पदार्थसे मुझे सुख मिला, तो यों जो बात जैसी नहीं है, उसमें वैसी कल्पनाएँ उत्पन्न हुईं, इससे अब उसकी हालत क्या हो गयी कि जो ज्ञेय पदार्थ हैं उनके प्रति अनुराग बनाया, उनके अनुसार अपने आपको परिणमाकर व्यर्थका श्रम बनाया, बस यही खेद हो गया । कोई इष्ट पदार्थ नष्ट हो रहा है, तो यह भी भ्रमसे अपनेको नष्ट हुआ मानता है । कोई इष्ट पदार्थ फल फूल रहा है, तो भी यह अपनेको फल फूल रहा मानता है, बस यही खेदका निदान है ।

परोन्मुखतासे शान्तिका विघात और विडम्बनाओंका भार—भैया ! अब समझ लीजिए कि भीतरमें ये असावधानियां कितनी बड़ी विडम्बनायें हैं ? सारा नक्शा पलट जाता है । जैसे कोई पुरुष राज्यमें या किसी संस्थामें कानूनकी दुहाई देकर कुछ विशिष्ट वृत्त उत्पन्न करता है, तो क्यों जी ! यदि विधिपूर्वक उस कानूनको ही मिटा दे या उसके एवजमें नया विधान पास कर ले, तो वह नियंत्रण एकदम खतम हो जायगा ना । ऐसे ही जगतकी यह बहुत बड़ी विडम्बना जो हो रही है, इसका मूल तो इतना ही है कि परपदार्थोंमें इसने आत्म-बुद्धि की, और भीतर ही भीतर इसने ज्ञेय पदार्थोंके अनुरूप अपना परिणमन बनाया, तो जो एक आत्मामें वैधानिक बात रहनी चाहिए थी शांति, आनंद, विश्राम वह सबकी सब एकदम उलट दिया । भीतरमें केवल एक परके प्रति आत्मबुद्धि होनेसे एकदम नक्शा ही दूसरा बन रहा है । खेदका कारण तो रागद्वेष मोह है । केवलज्ञानमें रागद्वेष मोह है नहीं तो परिणमता जाय उसी-उसीरूप, इसमें खेद नहीं होता ।

छींटाकसी या भक्ति—देखिये यह जिज्ञासु भगवान तक पर छींटाकसी कर रहा है । एक परिणमनके प्रतिपादनके माध्यमसे चूंकि वे भी बदलते रहते हैं, प्रभुमें भी समान समान सही परिणमन बनते हुए रहते हैं । इस कारण वहां भी खेद सम्भव है, अथवा यों समझिये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कि जिज्ञासुको परके प्रति विशेष भक्ति उत्पन्न हुई है। सो आखिरी एक चर्चा छोड़कर आचार्य देव प्रभुके आनंदरूपका बहुत बार समर्थन कर रहे हैं। प्रभुके रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे वहाँ कोई श्रम नहीं होता। परिणम-परिणाम करके भी जैसे मोही जीवको श्रम होता रहता था, प्रभुके प्रतिसमय केवल ज्ञानरूप नवीन-नवीन परिणमन होकर भी उनके खेद नहीं होता। तो जब घातिया कर्म ही नहीं रहे तो केवलज्ञानमें खेदका कारण क्या रहा ?

धर्मपालन और धर्मविकास—यहाँ यह स्पष्ट किया है कि केवल जाननहार रहे, इसी विधिसे तो केवलज्ञानकी उत्पत्तिका विधान है, और इसी विधिसे समस्त संकटोंके दूर होनेका विधान है। जहाँ कोई रागद्वेष मनमें आता है, वहाँ खेद उत्पन्न होता है, रागद्वेष न रहे, केवल जाननहार स्थिति रहे, तो वहाँ खेदका अवकाश नहीं है, ऐसा ही करना यही धर्मपालन है, धर्ममूर्ति यह स्वयं आत्मा है, धर्म इसका स्वभाव है, उस स्वभावपर अपना उपयोग स्थिर करना यही धर्मपालन है। धर्मपालनकी लम्बी चौड़ी व्याख्या नहीं है। जैसा मेरा सहज स्वरूप है ज्ञानमात्र; उस ज्ञानमात्र स्वरूपको ही "यह मैं हूं" इतना मानने लगे, बस धर्मपालन होने लगा।

व्यवहारधर्मका मूल प्रयोजन—व्यवहार धर्ममें जितने भी और कष्ट करने पड़ते हैं—अब नहावो, अब पूजामें खड़े हो, अब इस तरह अमुक क्रिया करो, ये व्यवहार धर्ममें जितने भी काम करने पड़ते हैं, हम यदि उल्टा न चलते होते तो करनेकी क्या जरूरत थी ? हम उल्टा चलते हैं, अधर्मसे चलते हैं, तो उसका यह प्रायश्चित्त है। यों समझ लीजिए, धर्मपालन तो सुगम है, धर्म इतना ही मात्र है कि जो निज आत्मस्वरूप है, बस उस स्वरूपके जाननहार रहें। कहने मात्रकी बात नहीं है, रह सकें, उसकी बात है। इसमें कहीं व्यवहारधर्मके निषेधकी बात नहीं कही, परिग्रह और आरम्भमें रहकर कोई जाननहार रहा आये, यह तो सम्भव नहीं है। परिग्रह और आरम्भको तजकर इस धर्मकी साधना की जाती है, इसीके मायने हैं साधु होना। इतना ऊँचा काम जो नहीं कर सकता है, वह परिग्रह और आरम्भकी वासना तजनेके लिए ही इतने व्यवहारके काम करता है। मंदिर आये, क्यों आये ? इसलिए कि आरम्भ और परिग्रहकी वासनाएँ बहुत-बहुत रहती हैं, और उनका उपयोग चलता है, तो यहाँ प्रभुके गुणोंका स्तवन करें, मंदिर जायें, तो वह आरम्भ और परिग्रहका उपयोग हमारा हो जायगा। तो एक यह एकदेश मुनिधर्मके लक्ष्यका ही तो काम किया मंदिरमें आकर। जितने व्यवहार धर्म हैं, उन सबमें आरम्भ परिग्रहकी कमी हो और ज्ञानस्वभावी अंतस्तत्त्वकी दृष्टि बने तो वह सफल है।

धर्मपालनका निरीक्षण—भैया ! विधिमें हो, अपने आत्मके स्वभावका स्पर्श और निषेधमें हो आरम्भ और परिग्रहका त्याग, बस इस कुञ्जीसे परीक्षा करते जाइये कि हमने

Version 1

कितना धर्मपालन किया है, हममें कितनी शक्ति ऐसी जगी है कि हम कितनी जल्दी-जल्दी अपने आपके ज्ञायकस्वभावकी ओर हम अपनी दृष्टि दे लिया करते हैं, इस तरह धर्ममें हम कितना बढ़े हैं, इसकी परीक्षा हो जायगी। दूसरे हम कितनी जल्दी-जल्दी आरम्भ और परिग्रहके ख्यालको तजकर विश्रामसे रह सकते हैं। इस अंदाजसे आप यह अनुमान कर लेंगे कि हम धर्मके पालनमें कितना बढ़े हैं। आरम्भ तो वही रहे, परिग्रह मूर्छा वही रहे, रागद्वेष विषय कषाय वही रहें, आत्माके सुधकी कुछ बात न हो और चाहे वर्षभर खूब उत्सव समारोह भी मनाये जाते हैं, पूजन वंदन आदि भी किए जाते हैं, किन्तु यह बात रंच भी न जगी हो कि हटावो ये आरम्भ परिग्रह, तो बतावो धर्मका पालन कितना किया ?

स्वभावपरिणमनमें खेदका अभाव—घातिया कर्मोंका अभाव होनेसे केवलज्ञानमें खेद की उत्पत्ति नहीं है। त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको जाननेका आकार कैसा है प्रभुका ? विश्व रूप है। तो इस प्रकार विशुद्ध ज्ञानरूपसे जो परिणाम रहा हो, उसका केवल परिणमन ही तो है। खेदकी बात कहाँसे आयगी ? प्रभुका ज्ञान ऐसा स्पष्ट है। जैसे कोई किसी बोर्डपर १० साल पहिले हुए बुजुर्गकी फोटो बनाये, १०० साल पूर्वकी फोटो बना दे और कल्पना करके या किसी तरह जान करके आगे जो होंगे उनकी फोटो बना दे, इस समय जो कुटुम्बमें हैं, उनकी फोटो बना दे तो उस बोर्डको देखकर जैसे एक ही समयमें उन सब कालकी बातोंका एक साथ ज्ञान हो गया, यह एक दृष्टांत मात्र दिया है। यों केवलज्ञानमें अनंतकाल तकका, पहिले अनंतकाल तकका आगे समस्त भूत भविष्यका वर्तमानका ज्ञान एक साथ होता है। वह तो एक विशुद्ध आत्माका शुद्ध परिणमन है। उसमें खेदकी कहाँ गुँजाइश है।

केवलके पारमार्थिक आनन्दका दृढ़ नियम—केवलीके तो घातिया कर्म दूर हो गए, आत्माके स्वभावका घात करने वाले जब कर्म नहीं रहे तो निरंकुश बेरोकटोक अनंत शक्ति प्रकट हुई है, वहाँ वह समस्त लोक और अलोक जानते हैं और उस जाननरूप आकारको व्याप करके अत्यंत निष्प्रकम्प उनके जैसा ज्ञान रहता है। ऐसे ही निष्प्रकम्प अनाकुलता भी रहती है, आनन्द भी रहता है। वहाँ आत्मासे भिन्न न तो अनाकुलता है और न आत्मासे भिन्न कोई ज्ञान है। यह प्रभु विशुद्ध ज्ञानरूप परिणम रहे हैं तो उस ही के साथ-साथ विशुद्ध आनन्दरूप भी परिणम रहे हैं। इस कारण यह भी ध्यानमें रख लीजिए कि केवल रहनेमें, और आनन्दमय रहनेमें कोई अंतर नहीं है, केवल होनेका ही नाम आनन्दमय होना है। इस कारण केवलज्ञान जैसे महाप्रत्यक्ष ज्ञानके साथ पारमार्थिक आनन्दका ऐकान्तिक नियम है। प्रभु सर्वज्ञ हैं और अनंत आनन्दमय हैं। यों प्रभुके स्वरूपको निहारकर उनकी आनन्दमयता का अनुमोदन करना चाहिए, याने प्रभुके ज्ञान और आनन्दके ज्ञानके अनुसार अपने आपमें भी ज्ञान और आनन्दको जगाना चाहिए। इस प्रकरणमें मुख्यतया यह सिद्ध किया है कि इन्द्रिय-

Report any errors at vikashd@gmail.com

ज्ञान, इन्द्रियसुख हेय है और अतीन्द्रियज्ञान व अतीन्द्रिय आनन्द ही उपादेय है।

ज्ञानकी सुखरूपताका अनुमोदन—उक्त ६० वीं गाथामें यह भली प्रकार सिद्ध कर दिया है, बता दिया है कि केवलज्ञान ही सुख है, ऐसी ही अनुमोदना की। भगवान सर्वज्ञदेव का सुख कैसा है यह विचारते ही उसही जातिका सुख ध्याताको भी होने लगे तो सच्ची अनुमोदना वहाँ है। प्रश्नकारने प्रश्न किया था कि केवलज्ञानमें भी तो परिणमन करते रहने का कष्ट है वहाँ अनंत सुख कैसे हो सकता है ? इस सूक्ष्म उलाहनका भी जहाँ समाधान पूर्ण दे दिया जावे व मग्न हो जावे तो भैया ! ऐसे वक्ता और श्रोता ही सच्ची अनुमोदना कर ही चुकते, इसमें संशय कहाँ रहा ? परिणमन तो स्वरूप है उपाधि नहीं, स्वरूप स्वका घात नहीं करता तब ज्ञानका पूर्ण ज्ञानरूप निष्कंप क्षोभरहित बना रहना ही तो अनंत सुख है। केवलज्ञानमें और सुखमें व्यतिरेक कहाँ ? इसलिए, केवलज्ञान ही सुख है ऐसा निश्चयकर उसके अनुरूप अपना अन्तश्चरण करना। इस निरूपणके अनंतर फिर भी आचार्यदेव केवलज्ञानकी सुखस्वरूपताका निरूपण कर चैतन्यनेत्रसे देख भालकर उपसंहार करते हैं याने उस स्वरूपको उप—अपने समीप (अन्तरमें), सं—भलेप्रकार सावधानीसे जैसे कि फिर बिखर न जावे इस तरह हरण करते हैं अर्थात् अपनेमें उस स्वरूपको रखते हैं—उपसंहारसे लोकमें भी यह भाव रहता है कि जो करना है सो करलो अब चर्चामें समय न गमावो। यहाँ अपनी चर्चाका उपसंहार करते हैं—

णाणं अत्थंतगयं लोयालोयेसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥६१॥

आनन्दप्रपञ्चमें ज्ञान व संयमका योग—यह आनंदका प्रकरण है। आनन्दकी अवस्था क्या है ? जो केवल सत्य सुखमय अवस्था है वही आनन्दकी अवस्था है। सुखका स्वरूप तो केवल ही है। अज्ञान भाव या अज्ञानकी परिणतिमें जो भी समझमें आता है, वह आकुलतामय है। यह पिंड तीन चीजोंका समूह है, जीव कर्म और नो कर्म। कर्म तो निमित्त होता और नोकर्म आश्रय होते। यहाँ यह समझा जाता कि जगतके बाह्य पदार्थोंसे मुझे सुख मिलता है, परन्तु जगतके बाह्यपदार्थ मेरी कोई भी परिणतिमें प्रेरणा देने वाले नहीं हैं। उत्तम मकान अपनी जगह ही तो है, उत्तम वस्तुएं अपनी ही सत्तामें तो हैं, यह जीव ही आत्मस्वभावसे च्युत होकर उन पदार्थोंके विषयमें कल्पनाएं स्वयं करता है और तभी यह जीव सुखी होता है। सच्चे सुखका स्वरूप तो वह केवल अवस्था ही है। निगोद आदिमें भ्रमता हुआ यह जीव मनुष्यजीवनकी स्थितिमें आया तो फिर इसको व्यर्थ ही नहीं खोना चाहिए। मनुष्यभव ही एक ऐसा भव है जो ऊंचेसे ऊंचे स्थानपर भी पहुंचा सकता। मनुष्य ही श्रुतकेवली कहला सकता है, इसके विपरीत देव भी चाहे करीबन उतनी ही योग्यता रखते

Version 1

हों, परन्तु वे भी श्रुतकेवली नहीं कहला सकते। ऐसा प्रभाव इस मनुष्य भवपर किसका पड़ रहा है ? एक संयमका ऐसा प्रभाव पड़ रहा है। मनुष्य जन्मका कितना उत्कृष्ट स्वरूप है ? इसीसे मोक्ष मिल सकता है।

निजस्वभावदृष्टिसे व परोन्मुखताके अभावसे क्लेश विनाश—इन्द्रियसुख तो हमने अब तक बहुत भोगा, मात्र आकुलता ही प्राप्त कर सके हैं। जगतके पदार्थोंमें तो कुछ प्राप्त करनेके बजाय यह जीव खोकर ही चला जाता है। परके संयोगमें सुख नहीं है। प्राणियोंको जो इतना दुःख हो रहा है वह मात्र परपदार्थके संयोगसे हो रहा है। आज हम मनुष्यभवमें नहीं होते, और किसी तिर्यञ्च आदि जीवके स्वरूपमें होते, तो फिर हमारे लिए तो ये सारे यहाँके समागम तो नहीं होते, उस समय हमारे ये परिचय आदि तो कुछ भी नहीं होते। अब यहाँ भी हम यह समझ सकते हैं कि हमारा यहाँ किसीसे परिचय नहीं है, ये सारे समागम मेरे लिए त्याज्य हैं। विषय कषाय मोह आदि भाव इन परिचयोंमे ही तो बढ़ते हैं। जितनी भी आत्मामें आकुलता पैदा होती है, वह परिचयको ही पाकर होती है। इसलिए जितना भी कभी दुःख होता है, वह परपदार्थके संयोगकी बुद्धिसे होता है। जब तक परपदार्थके संयोगमें बुद्धि है तब तक यह जीवन दुःखस्वरूप ही है, परंतु सुखस्वरूप तो सम्यग्दर्शनमें ही विद्यमान है। भरत चक्रवर्ती घरमें भी रहते हुए वैरागी थे, यह उनके सम्यग्दर्शनका प्रभाव है। वस्तुकी सत्ता अनादि अनन्त अखंड स्वतःसिद्ध है। जब तक वस्तुकी स्वतंत्र अवस्था, अपनी स्वतंत्र सत्ताका ठीक स्वरूप जीवनमें नहीं उतरता, तब तक जीवका मोह भाव नहीं हट सकता और दुःख नहीं मिट सकता। दुःखको मिटानेका सरल हल यही है कि ठीक जैसा वस्तुका स्वरूप है, वैसी ही श्रद्धा बना लो। वस्तुकी सत्ता बिल्कुल स्वतंत्र है, उस स्वरूपको समझो। ऐसा सम्यग्दर्शनका उद्यम करो। इस सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लिया तो सब कुछ पाया, यदि इसे नहीं पाया और जगतमें चाहे जितना पा लिया तो सब बेकार ही है। मानव जीवनकी सफलता आत्मकल्याणसे है।

विषयकी खाजमें नरजन्मकी व्यर्थता—एक अंधा भिखारी था। उसने सोचा कि मैं शहरकी चहारदीवारीके सहारे-सहारे चलता चलूं, और जब दरवाजा आ जाय तो शहरमें घुसकर भीख माँग लूँ। वह चहारदीवारीके सहारे चलता गया, परन्तु ज्यों ही दरवाजा आया, तो वह अपना सिर खुजाने लग गया और आगे बढ़ गया। आगे बढ़नेपर उसने फिर चहारदीवारी सम्हाली तो उसे वह मिल गई, और फिर उसके सहारे-सहारे वह आगे बढ़ने लगा। फिर दरवाजा आया तो वह फिर अपना सिर खुजाने लग गया। इस प्रकार ज्यों ही दरवाजा आता तो वह अपना सिर खुजाने लग जाता, और उसको दरवाजेका भान ही नहीं रहता, और वह आगे बढ़ जाता। तो वह शहरके अंदर घुस नहीं सका, और न भीख ही माँग

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सका। इसी तरह यह जीव अज्ञानका अंधा, विषयोंका खजेला, इच्छाओंका भिखारी सुखके भरे शांति शहरमें जाना चाहता है और परपदार्थका सहारा लेता है। सहारा लेते-लेते कुछ सुबुद्धि आई तो मनुष्यभवका एक दरवाजा मिला, तो वह वहाँपर ही अपने विषयकी खाज खुजाने लग जाता, और आगे बढ़ता है तो फिर उन्हीं जातियोंमें चलता रहता। फिर उसको मनुष्यभव मिलता, तो फिर उसके वही सिरकी खाज खुजानेका काम लग जाता, तो वह कभी संसारसे मुक्ति पा ही नहीं सकता। यदि अन्यत्र हर जगह देखें, हर जीवोंको देखें, तो वहाँ पता लगेगा कि पशुओंमें भी विषय भोग आदि करनेमें नियम बना होता है, फिर मनुष्य भव में क्या नियम नहीं बन सकता ? रात दिन मनुष्य विषय कषायमें लगा रहता, परंतु ऐसा चाहिए कि जैसे दोपहरका भोजन १० बजे किया तो फिर ६ घंटेका त्याग कर दिया। ऐसा करनेपर ६ घंटे तक तो उसकी प्रवृत्ति भोजनसे हट जायगी। परन्तु जिस मनुष्यके त्याग नहीं होता, संकल्प नहीं होता, वह मनुष्य जरा चाट वाला दिखाई दिया तो चाट भी खाने लग गया। चाट खाये भी नहीं तो भी उसका मन ऐसे संस्कारमें चल रहा कि कुछ खाऊं। तो इस प्रकार उसके बंध होता। बंध संस्कारोंसे होता है।

परविषयक स्नेह संस्कारोंसे चित्तकी अस्थिरता—अभी एक शंका की गई कि हम जब दुकानमें बैठे होते हैं तो उस समय तो हमें दुकानका ही ख्याल रहा करता है, और जब सामायिक करते हैं, तो उस समय १० बातोंका ख्याल आता है, इसलिए सामायिकसे तो दुकानमें बैठा रहना अच्छा है, क्योंकि दुकानमें तो केवल एक ही बातका बंध होता, और सामायिकमें तो १० बातोंका बंध हो जाता। इसका उत्तर यह है कि तुम्हारा यह भ्रम हो गया कि सामायिकमें तो १० चीजोंका ख्याल आता है, इसलिए १० चीजोंका बंध होता है और दुकानमें एक ही चीजका ख्याल आता है, इसलिए वहाँ एक ही चीजका बंध होता है, तो यह तुम्हारा भ्रमपूर्ण विचार है। बंध तो संस्कारमें ही होता है, सामायिक तो कृपा करने वाली चीज है। वह अपने दोषोंको दिखा देती है। वह तो बतला देती है कि हमारे अंदर इतना राग लगा हुआ है। दुकानमें तो कुछ पता ही नहीं लग सकता। सामायिकमें यह तो पता चलता कि तुम्हारे १० चीजोंमें राग लगा हुआ है, बंध इतना सदा चल रहा है, इतना पता तो चला। अब क्या करना सो देखो, तुम्हारे जिस जिसका भी ध्यान आया, तो उसमें ही अपना पूर्ण ध्यान लगा दो, और ऐसा ध्यान लगा दो कि उसके सच्चे स्वरूपको समझ सको। इनका सच्चा स्वरूप अथवा सच्चा स्वभाव क्या है ? यह सोचो कि इनका मेरे साथ क्या सम्बंध है ? कोई सम्बंध नहीं। तो फिर उन रागोंसे अपने आप दिल हट जायगा, फिर तुम्हें करना क्या ? बाह्य पदार्थोंसे दिल हटाकर आत्माके सच्चे रूपमें ही रह जाना, केवल एक आत्माके ही रूप रह जाना, ऐसा करनेसे ही तो अनंत सुख होता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

परपरिहारसे पवित्रता—परका लक्ष्य हटे तो केवलपना अपने आप आ सकता है। उस आत्माको पवित्र बना लो। जैसे चौकीपर बींट पड़ी और कहते कि इसको पवित्र बना दो, और पानी लेकर उस बींटको साफ कर देते। क्यों साफ कर देते? इसलिए कि वह चौकी खालिस हो जाय, अकेली चौकी रह जाय। इस प्रकार चौकीकी बींट इसलिए साफ नहीं करते कि बींटको हटा दिया जाय, परन्तु इसलिए साफ करते कि वह चौकी खालिस रह जाय। खालिस चौकीको रखनेके लिए चौकीको धो रहे हैं। यदि बींट हटानेके लिए चौकीको धो रहे हो तो फिर जहाँ भी वह बींट उठाकर फेंकी गई है, वहाँसे भी उसे उठाकर फेंको, क्योंकि बींटको ही तो उठा रहे हो ना, फिर जहाँ कहीं वह बींट गई, वहाँसे भी उसे उठाओ। तो फिर यही एक व्यवसाय बन जायगा कि बींटको उठाये जाओ और फेंकते जाओ। इसलिए बींटको हटानेके लिए चौकीको नहीं धोते, बल्कि चौकीको खालिस करनेके लिए चौकीको धोते। इसी तरह परका लक्ष्य परके लक्ष्यको हटानेके लिये नहीं हटाते, परन्तु परका लक्ष्य अपनी आत्माके शुद्ध स्वरूपके विकासके लिए हटाते।

अन्तस्तत्त्वके आलम्बनमें धर्म और आनन्द—हमारा यह जो पिंड है, उसमें अनेक प्रकारके मैल आ गये। उन मैलोंके कारण हम दुःखी हो रहे। इन सबसे न्यारा जो हमारा ज्ञानस्वभाव है, हम उसका अवलम्बन लेंगे, तो परमसुखी हो जायेंगे। सुखी होनेके लिए हमें किसी न्यारी चीजका आलम्बन नहीं लेना है, उसका तो तरीका स्वयं अपनेमें ही मौजूद है। इसलिए केवल अपने इस धर्मको पालो। इस धर्मको पानेके लिए बहुत परिश्रमकी जरूरत नहीं पड़ती। दो पैसे कमानेमें तो बहुत कठिनाई आ सकती है, परन्तु धर्मका पालन करना बिल्कुल सरल है, परंतु मोही जीवको तो पैसा कमाना बहुत आसान लगता। धर्मके पालनमें तो किसी दूसरे पदार्थके आलम्बनकी आवश्यकता ही नहीं। पैसा तो परपदार्थ है, इसलिए उसका प्राप्त करना कठिन है, परंतु धर्म तो परके आलम्बनसे पैदा नहीं होता, इसलिए वह बिल्कुल सरल है।

अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दकी बहुशः प्रतिपाद्यता—आचार्य महाराज इस गाथामें कहते हैं कि अनन्तसुखका असली स्वरूप बताकर मैं उपसंहार करता हूं। परन्तु ऐसा लगता कि वे बार-बार वही चीज तो बतलाते हैं और फिर उपसंहार करनेकी बात ला देते। और एक बार उपसंहार करके फिर उसी बातको बतलाने लग जाते। परन्तु बात यह है कि अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुखकी बात बतानेके सिवाय आगम और शास्त्रोंमें क्या अन्य उत्तम बात लाई जावे? वही बारबार आचार्य महाराज भी बतला रहे हैं और श्रोतागण थक न जाएं, इसलिए बीच बीचमें उससंहारकी बात कहकर उनको विश्रामसा देते हैं। यह झूठ भी नहीं है मध्यमें आने वाले अन्तराधिकारोंका उपसंहार आवश्यक भी है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वभावविकासमें आनन्दलाभ—कहते कि सुख चीज क्या है ? सुख वह स्थिति है जो स्वभावके घातके अभावमें पैदा होती है। स्वभावके घातका अभाव होना ही सुखकी स्थिति है और जहाँ स्वभावका घात होता वह स्थिति दुःखकी है। आत्माका स्वभाव दर्शन और ज्ञान है और केवलीके दर्शन ज्ञानका प्रतिघात होता नहीं। उनके उनकी शुद्ध आत्माके स्वभावका घात नहीं हो सकता। त्रिलोक तक विस्तृत सारे पदार्थोंको जिसने जान लिया और अपनी स्वच्छन्दतासे जो बढ़ गया तो उसके ज्ञानकी तो सीमा हो ही नहीं सकती। भगवानके राग द्वेष मोहादि भाव तो है ही नहीं, तो केवलीको ऐसी स्वच्छन्दता मिली कि उनके तो स्वभावका घात होता ही नहीं और स्वभावका घात नहीं होना वही स्थिति सुख है। उसी अभेद अवस्थामें उस केवलका स्वरूप है। ज्ञानकी ऐसी स्थिति होना यही तो सुख है। इसके अलावा कोई सुख दुनियामें नजर नहीं आ सकता। इसी अभेद अवस्थामें सौख्य है। अभी एक भाईने प्रश्न किया है कि ज्ञानकी इस वृद्धिमें स्वच्छन्दता शब्दका प्रयोग क्यों किया जा रहा है ? भैया ! जब ज्ञान पहिले समयमें तो अतिमंद था और दूसरे ही समयमें सर्व सत्का जानने वाला हो गया, ऐसा बेहद बढ़ गया इस महान् तारतम्यका जो कि एकदम हो गया बताना ही स्वच्छन्दता शब्दका प्रयोजन है।

कैवल्यमें ज्ञानानन्द—ज्ञानकी ५ अवस्थाएं या पर्याएं होती हैं—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवल। उस केवल पर्यायको अनन्त भी कह सकते हैं, परन्तु मनुष्यकी बुद्धिको अनन्तज्ञान कहकर हितपर पहुंचाना कठिन था, इसलिए उनके ज्ञानका नाम केवलज्ञान बतलाया। उनका वह केवलज्ञान केवल ही होता है, बिल्कुल शुद्ध। ऐसा शुद्ध नहीं जैसा मशीन से क्रीम याने सार निकाल जाकर दूधको बजारमें खालिस बताया जाता है, उस तरहका खालिस नहीं परन्तु जो अपने समस्त अविभाग प्रतिच्छेदोंको सारोंको लेकरके फिर प्रगट हुआ है, ऐसा वह खालिस केवलज्ञान, वह केवल सुखपना ही है। अन्य कोई ज्ञान सुखरूप नहीं है। संसारके सुख तो मात्र आकुलता ही हैं लोकमें भी देखा जाता है जब राग व हर्ष अधिक होता तब हार्टफेल तक भी हो जाता।

समागम और हर्षमें भी आकुलता—एक साहब १०, १० रुपयेकी लाटरी लगाकर अपने भाग्यको देखा करते थे, परन्तु उनका भाग्य कभी नहीं चमका। एक दिन उन्होंने अपने नौकरसे कहा कि देख मैं तेरे नामसे लाटरी लगाता हूं, यदि जीत हो गई तो २ लाख रुपये मिलेंगे और वे तेरे हो जाएंगे। लाटरी लगाई गई और जीत भी हो गई, तब वह व्यक्ति कुछ विवेकी था, उसने सोचा कि खुशीकी अवस्थामें नौकरको दो लाखका इनाम दे दिया जायगा तो वह तुरन्त हार्टफेल होकर मर जायगा, क्योंकि उसने कभी अपनी जिन्दगीमें सौ रुपये भी नहीं देखे होंगे, दो लाख देखकर तो वह अपनी खुशी बरदाश्त नहीं कर सकेगा और मर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जायगा। तब उसने क्या किया कि अपने नौकरको बुलाया और उसको खूब मारने लगा, मारते मारते जब वह नौकर खूब अधमरा हो गया तो उसने उससे कहा कि अरे बेवकूफ तेरी लाटरीका फल आ गया और तू जीत गया, तुझे दो लाख रुपये मिल गये, जा तू मेरी कम्पनीका उन रुपयोंमें मालिक बन गया। उस मारके दुःखमें जो उसे वह खुशी हुई तो उस खुशीको वह बरदाश्त कर गया। इस तरह उस विवेकीने उसको मरनेसे बचा लिया। उसने उसे कम्पनीका मालिक बना दिया, तो वह बोला कि मैं तो अनपढ़ हूं, मैं उसे संभालनेके लायक नहीं हूं, मैं मालिक बन गया सो तो ठीक है, परन्तु आप ही इसको संभालो। तो इस प्रकार वह नौकर तो मालिक बन गया और वह मालिक उसका मैनेजर बन गया। इसमें हर्षकी आकुलताका अनुमान कराया।

ध्रुव आत्मस्वभावके अवलम्बनमें सत्य विश्राम—देखो भैया! जगत विचित्र है। जगतके जितने भी सुख हैं, वे विश्रामके योग्य नहीं हैं। मनुष्य कर्मके आधीन परवश है और अंतमें उसे मरना पड़ता है। सब कुछ जितना वह पा सकता था, उसने पाया, परन्तु इन सबको एक दिन छोड़कर उसे मरना होगा और नवीन भवमें पैदा होना होगा। इसलिए यहाँ के सारे मोहादि भावोंको छोड़कर और अपने आपमें लक्ष्य करके आगे बढ़ो तो ही अनंत सुख की प्राप्ति हो सकती है। इस दुनियाके सारे समागमोंसे अपना लक्ष्य हटाना चाहिए। केवलज्ञान ही एकमात्र सुख है, क्योंकि उसमें सारे अनिष्ट दूर हो गये और सारे इष्ट मिल गये तथा किसी भी परपदार्थका आलम्बन नहीं करना पड़ा। केवलज्ञानकी अवस्थामें सुख होता है, उसकी प्रतिपत्तिका विपक्ष जो दुःख अथवा शांतिके अनुभवनका विपक्ष जो दुःख होता, जिसका कारण अथवा साधन अज्ञान होता है। जब उनके अज्ञान ही नष्ट हो गया तो वहाँ तो केवलीके सारे अनिष्ट अथवा दुःख दूर हो गए। उनका वह परिपूर्ण उत्पन्न हुआ ज्ञान अनन्त सुखका साधन हो गया। यदि मनुष्य अपनी एक आत्माको चिदानन्द खालिस देखे और अनुभव करे कि मैं बाहरी पर्याय कुछ भी नहीं हूं और एक बार भी स्वानुभव प्राप्त करे, पर्यायबुद्धिको दूर करके निज शुद्ध आत्माकी बुद्धि हो जाय तो जब तक उसके संसार होगा, उसको अच्छा-अच्छा भव मिलेगा। किसी भी एकांतमें बैठकर यदि मनुष्य सोचे कि मैं क्या हूं? तो सबसे बादमें यही उत्तर आयेगा कि मैं यही ध्रुव आत्मस्वभावी हूं। किसीसे पूछे कि तू क्या मरना चाहता है, तो वह यही कहता कि नहीं, मैं तो ध्रुव ही रहना चाहता हूँ। तो उसे कहते कि हे आत्मन्! तू मरना नहीं चाहता तो तू वही है, जो ध्रुव है।

ध्रुव अन्तस्तत्त्वके अवलम्बनमें हित—एक ही चीजको पकड़कर बैठ जाओ तो सब कुछ मिल जायगा। जो ध्रुव नहीं, सो मैं नहीं, जो विनाशीक है, वह मैं नहीं हूं। ये बाह्य समागम इसी आकारमें हमारे समीप सदा रहने वाले हैं क्या, नहीं हैं। हमारा खुदका शरीर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ध्रुव है क्या ? नहीं, यह भी मिट जायगा। फिर कहते कि भाग्य तो हमारा ध्रुव है, तो उत्तर मिलता कि भाग्य और कर्म भी ध्रुव नहीं हैं, इसलिए वह भी तू नहीं। फिर रागद्वेष मोह आदि भाव ध्रुव हैं क्या ? वे भी ध्रुव नहीं, इसलिए वह भी तू नहीं, क्योंकि तू तो वह है जो ध्रुव है। यहाँ वह मनुष्य एकान्तमें बैठा शेखचिल्लीकी तरह कल्पना और ज्ञान चल रहा है, उसकी ये कल्पना और ज्ञान भी ध्रुव नहीं, इसलिए वह भी वह नहीं है। यह तो खंड ज्ञान है, यह जो सदा नहीं रहता। मझोला क्षयोपशम तो किसी आत्माके बड़ा बनते ही मिट जाता और किसी आत्माके छोटा बननेपर भी मिट जाता। केवलीके भी मिट जाता और जीवके निगोदमें जानेपर भी मिट जाता। इस तरह तो उसको भी क्षति पहुंचती। तो इसलिए यह भी तू नहीं है। तो मैं क्या हूं ? क्या केवलज्ञान मैं हूं ? कहते कि अव्वल तो इस तरहका प्रश्न ही नहीं उठाना चाहिए, ऐसी चर्चा करना तो अप्रकृत है, वह प्रकरणसे बाहर होती क्योंकि हम तो अपनेमें जो अभी है उसपर विचार कर रहे हैं और पूछो भी तो देखो प्रतिसमयमें होने वाले ज्ञानस्वभावकी जो शुद्ध तरंग है, स्वाभाविक तरंग है, वह एक समयकी तरंग भी दूसरे समयमें नहीं रहती और वह भी ध्रुव नहीं, इसलिए वह भी मैं नहीं हूं। जहाँ नाना अवस्थाएं होती हैं तो एक चीज ऐसी भी होती है, जिसकी कि वे नाना अवस्थाएं हुई हैं। इसी तरह ज्ञानकी सारी अवस्थाएं जिस स्वभावकी होती हैं, वह तो मैं एक ही हूं। उस चीजको कहते कि वह एक चीज वह ज्ञानस्वभाव है, जिसकी कि ये सब अवस्थाएं होती हैं। तो यह ज्ञानस्वभाव जो मेरा है, जो अनादिसे है, वह मैं हूं।

वह ज्ञानस्वभाव केवलज्ञानसे मिलकर भाईचारेकी तरह हो गया, परन्तु ध्रुव तत्त्व तो ज्ञानस्वभाव ही है, और केवलज्ञान उसकी पर्याय है। इसलिए वह ज्ञानस्वभाव अनन्त भी है। वही ज्ञानस्वभाव मैं हूं, जो कि ध्रुव ही है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी मैं नहीं हूं। इस प्रकार एक केवल दृढ़ताके साथ ज्ञानस्वभावकी भावना सदा की जाय तो वही केवलपना और वही सुखका स्वरूप है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी सुखका स्वरूप या मार्ग नहीं है।

केवलीके पारमार्थिक सुखका श्रद्धान करानेका उपक्रम—अब केवली भगवानके ही पारमार्थिक सुख है, अर्थात् वास्तविक सुख केवली भगवानके ही ऐसी श्रद्धा करवाते हैं। ज्ञानी गुरुवोंकी देशनाके निमित्तसे आत्मा सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। निमित्तदृष्टिसे यह बात कही जा रही है कि श्री कुन्दकुन्ददेव वास्तविक सुखकी श्रद्धा करवाते हैं, धन्य वह समय जब देवके साक्षात् दर्शन हो रहे थे, जिनकी परोक्ष इस वाणीसे भव्य अपना उद्धार कर रहे थे तो जब दर्शन व वचन भी साक्षात् मिलते थे, जिन्हें मिलते थे उन्होंने मोक्षपथका लाभ लिया ही है। यहाँ आचार्यदेव केवलीके ही पारमार्थिक सुख है, ऐसी श्रद्धा कराते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमति विगदघादीणं ।
सुणिऊण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ।।६२।।

केवलीके पारमार्थिक सुखका श्रद्धापन—मोहनीय आदि कर्मोंके जालमें जो फंसा होता है ऐसे जीवने सुखाभासमें सुखकी ऐसी रूढ़ि बना रखी है कि वही उसे सुख दिखाई देता है, परन्तु वह रूढ़ि वास्तविक चीज नहीं है, क्योंकि वह स्वभावका प्रतिघात लिए होती है और आकुलताको लिए होती है। जो स्वभावका घात करने वाली अवस्था है वह सुखका कारण नहीं। जैसे किसी बर्तनमें पानी रखा है, यदि उसमें कंकर डाल दो तो उस पानीमें आकुलता पैदा हो जायगी, इसी तरहसे जब भी रागद्वेषका कंकर आत्मामें पड़ता, दर्शन ज्ञान आदिकी स्थितिमें प्रतिघात हो जाता है और आकुलता पैदा हो जाती है, परन्तु वह स्थिति सुखकी नहीं। जिनके घातिया कर्म नष्ट हो गये, जिनके स्वभावके घातका अभाव है, उनके ही पारमार्थिक सुख है। यही तो सुखका लक्षण है, वह केवलीके है, अतः केवलीमें पारमार्थिक सुख है, ऐसी श्रद्धा करनी चाहिए।

आत्मीय आनन्दकी स्वाभाविकता—एक भाईने अभी प्रश्न किया कि यहाँ हमको जो सुख मालूम पड़ता है वह दुःखके कारण मालूम पड़ता है, यदि दुःख नहीं होता तो सुख ही है, ये हम कैसे मानते ? ऐसी यहाँ शंका हुई। परन्तु बात ऐसी है कि जब तक स्वानुभव अवस्थाका अनुभव न हो जाय तब तक उस सुखका अनुमान हो ही नहीं सकता। सिद्धोंकी बातको जाने दो, अपने आपमें जैसा कि आत्मस्वरूप बताया, वस्तुका स्वरूप बताया, ऐसी स्थिति करके अपने ही स्वानुभव अवस्थाको पहिचानो तो उसके वहाँ ऐसा प्रत्यय हो जाता है कि सुख और दुःखसे परे आनन्द नामकी कोई चीज है। स्वानुभवके सुखका मुकाबला भगवानके सुखसे करना चाहिए, लौकिक सुखसे नहीं। सुखका अर्थ है, ख माने इन्द्रियां, सु माने भले प्रकारसे रहें, जहाँ इन्द्रियाँ भले प्रकारसे संतुष्ट रहें, उस स्थितिको सुख कहते हैं तथा जहाँ ख-इंद्रियोंको दुः—बुरा लगे वह दुःख है। इससे तो यही प्रसिद्ध हुआ कि भगवानका ज्ञान अतीन्द्रिय है और सुख भी अतीन्द्रिय है, सो अतीन्द्रिय होनेके कारण उसे सुख शब्दसे कहना उपयुक्त नहीं उसे आनन्द शब्दसे बताना योग्य है। परन्तु व्यवहारियोंको समझाना है सो सुख शब्दसे प्रारम्भ किया जाता है।

प्रभुके आनन्दकी सांसारिक सुखसे विलक्षणता—भगवानके सुखका मुकाबला इन्द्रिय-सुखसे न करें। किन्तु स्वानुभव सुखसे ही भगवानके सुखका मुकाबला भले प्रकारसे हो सकता है। जैसे किसी आदमीने दो पैसेके पेड़े खरीदकर खाये और किसी आदमीने एक रुपयेके पेड़े खरीदकर खाये, परन्तु दो पैसेके पेड़े खाने वालेको उस स्वादका अन्दाजा होता है, जो १) रु० के पेड़े खाने वालेको प्राप्त होता है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि स्वानुभवके पश्चात् समझता है कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जो आनंद हमने अनुभव किया, केवलीके स्वानुभवका अनुभव भी वैसा ही, किन्तु पराकाष्ठाको प्राप्त होगा। इसलिए रागद्वेष आदि भावोंमें रहकर सिद्धोंके सुखका अनुभव नहीं हो सकता।

मोक्षसुखसुधापानसे दूर रहने वालोंकी स्थिति—यहाँ यह बताया जा रहा है कि इन्द्रियसुख तो वास्तवमें दुःख ही है। उसमें जो सुखकी रूढ़ि पड़ गई, यह तो बिल्कुल अपरमार्थिक ही है। भगवानका अतीन्द्रिय सुख ही पारमार्थिक और वास्तविक सुख है। जिन्हें यह श्रद्धा नहीं है, वे मोक्षमार्गसे विपरीत अवस्था बनाते हैं। वे मोक्षसुखके अमृतपनसे दूर हटकर मृगतृष्णामें जैसे मृग जलके भारको ही देखता है, वे अभव्य जीव इन्द्रियोंके सुखोंमें सुख को खाजते हैं। भगवानका अतीन्द्रिय सुख ही पारमार्थिक सुख है, ऐसी जिनको श्रद्धा नहीं है, वे मोक्षके अमृतपानसे दूर हैं। मोक्षकी शुरुआत चौथे गुणस्थानसे होती है, जिसे कहते हैं निर्जरा वह मोक्षका आंशिक रूप है, और सिद्ध अवस्था होने तक वह निर्जरारूप मोक्ष ही चला करता है, मोक्षका ही एकरूप निर्जरा है। शुरू मोक्षका भी नाम मोक्ष ही है, परन्तु जो समस्त मोक्ष होता है, वही मोक्ष शब्दसे पुकारा जा सकता है। इसलिए मोक्षकी शुरूआतको निर्जरा शब्दसे पुकारा गया। आत्मामें जो उन कषायोंके भावोंसे स्वरूपाचरण होता है, वह मोक्षसुखके अमृतपानसे दूर हटकर मृगतृष्णासे जलके भारको जैसे मृग देखता है वैसे अभव्य जीव इन्द्रियसुखमें ही सुखका अनुभव करते हैं, मिथ्यादृष्टिका ऐसा ही अनुभव होता है। आत्मा का सही अनुभव सम्यग्दृष्टिमें ही हो सकता है।

स्वानुभूतिमें निर्भयता—यहाँ शङ्का होती कि सम्यग्दृष्टिके कई प्रकारका भय रहता है तो उन्हें सम्यक्त्वका अनुभव नहीं रहता होगा। उत्तर—देखो भैया! भय ८वें गुणस्थान के छठे भाग तक रहता है। चौथे गुणस्थानमें सबसे ज्यादा पांचवेंमें उससे कम, इस प्रकार कम भले ही होता जाता हो और वह भी इतना कम कि बुद्धिगम्य भी नहीं रहता, परन्तु भय रहता इसी स्थान तक है। फिर शङ्का होती कि भय और सम्यक्त्व दोनों एक साथ रह कैसे सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि प्राक् पदवीमें सम्यक्त्व तो सदा रहता है, परन्तु स्वानुभव सदा नहीं रहता है, स्वानुभवकी स्थितिमें भय नहीं रहता और स्वानुभवके सम्यक्त्वमें अन्तर्भय नहीं रहता। भय और जुगुप्सा इनका आस्रव आगममें सदा नहीं कहा गया। जैसे पूछा जाय कि चौथे गुणस्थानमें एक जीवके एकदा कितने आस्रव होते हैं तो उत्तर होगा कि अधिकसे अधिक ९ और कमसे कम ७। वह इस प्रकार है—अप्रत्याख्यानावरणकी १, प्रत्याख्यानावरणकी १, संज्वलनकी १, हास्यादियुगलमें २, वेद १, भय व जुगुप्सा तथा योग १, इस तरह तो ९ हुए। भय जुगुप्सामें से एक ही लो तो ८ हुए। भय व जुगुप्सा दोनों ही न लो ७ हुए। इतना ही नहीं कि भय आस्रव किसी सम्यग्दृष्टिके नहीं होता। किन्तु मिथ्यादृष्टिके भी कदाचित् भय व जुगुप्सा उदयमें नहीं होते, यहाँ भी आस्रव एक जीवकी अपेक्षा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

१०-६-८-७ बताये गये हैं, हाँ संज्ञारूपमें भय ८वेंके छठे भाग तक है।

स्वानुभवकी लब्धिरूपता व उपयोगरूपता—स्वानुभव दो प्रकारके होते हैं, स्वानुभव लब्धिरूप और स्वानुभव उपयोगरूप। स्वानुभवके उपयोगरूपमें होनेपर मैथुन आदि कोई प्रकारकी बात नहीं रह सकती। परन्तु सम्यक्दृष्टिके तो सम्यक्त्व रहते हुए भी गृहस्थावस्था में संभावित अल्पमैथुन है, स्त्रीसेवन है। वहाँ भी उसका स्वानुभव लब्धिरूप है, दृष्टिरूप है। उस सम्यग्दृष्टिका स्वानुभव वहाँ उपयोगरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टिके भय, मैथुन आदि सम्यक्त्व के साथ रह तो सकते हैं, किन्तु स्वानुभवकी उपयोगरूपता प्राप्त होनेपर रह सकते नहीं हैं। जैसे एक आदमी अंग्रेजी और हिन्दी दोनों जानता है। जब वह हिन्दीका कोई पत्र पढ़ रहा है, तो उस समय हिन्दी तो उसके उपयोगरूप होती, और अंग्रेजी केवल लब्धिरूप रहती। यह बात नहीं है कि उसमें अंग्रेजीकी योग्यता ही नहीं। अंग्रेजीके विषयमें योग्यता तो है, परन्तु उपयोगरूप उस कालमें हिन्दी ही रहती। उस वक्त उसे अंग्रेजीके विषयका सम्यक्त्व तो है, परन्तु उसका उपयोग नहीं है। इसी प्रकार अन्योपयोगी सम्यग्दृष्टि जीवका स्वानुभव केवल लब्धिरूप है।

सम्यक्त्वमें अन्तःसंस्कृति—यहां प्रश्न हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने रोजगारमें, व्यापारमें विषाद आदि क्यों करता है? हाकिम नाराज होता है, तो उसे विषाद क्यों होता है? क्या ऐसे सम्यक्त्व हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं कि विषाद आदि सब कुछ होते हुए भी वह सम्यग्दृष्टि है। जो सम्यग्दृष्टि ६ महीने तक किसी मुर्देसे प्रेम करने वाला है, तो इन छोटे-छोटे प्रश्नोंसे, इन छोटी-छोटी बातोंसे उसके सम्यक्त्व न रहे, यह बात नहीं हो सकती। इतना विषाद आदि होते हुए भी कुछ देर बाद ही उसका लक्ष्य स्वकी ओर पहुंचता है। अप्रत्याख्यान आदि कषायोंके उदयमें उसकी विषादकी परिणति हो गई, परन्तु मिथ्यादृष्टि जैसा भाव उसके नहीं रहेगा।

अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूपकी भावनामें लाभ—यहाँ यह बतलाते कि इन्द्रिय सुख हेय है और अतीन्द्रिय सुख उपादेय है, ऐसी भावना जो किसीके मनमें आ गई है तो वे निकट भव्य जीव हैं और जिनके ऐसी भावना आगे आवेगी, वे दूर भव्य जीव हैं। वे ही संसारसे पार हो सकते हैं जिनके कि ऐसी श्रद्धा आ गई। अतीन्द्रिय सुखकी श्रद्धा करना, भगवानके स्वरूपकी श्रद्धा करना, भगवानकी भक्ति करना, ये सब एक ही चीज हैं। अतीन्द्रिय सुखकी भावना करो तो कर्मोंकी व्यवस्थासे जो भी क्लेश आते हैं वे सब वहाँ निर्जराके लिए ही आते हैं और उनकी निर्जरासे अतीन्द्रिय सुखकी जड़ अन्दर ही अन्दर दृढ़ ही होती है।

प्रभुभक्तिका प्रसाद—एक आदमी भगवानका पुजारी था और उसने उनकी प्रतिमा अपने ही घरमें रख रक्खी थी। प्रति दिन ही वह बड़े भक्तिभावसे उसकी पूजा करता था।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उस पुजारीकी चार आदमियोंसे लड़ाई होगई । पुजारी धनी भी था । वे चारों आदमी एक दिन डाकू बन कर उसके घरमें घुस गये कि हम तेरा धन लूटेंगे और तुझे मार डालेंगे, तब उसने जवाब दिया कि मैं मरनेको तैयार हूं, परन्तु उससे पहले मुझे एक काम कर लेने दो । मेरे मकानमें मेरे भगवानकी मूर्ति है, मरनेसे पहले मुझे उसे नदीमें सिरा आने दो । उन्होंने स्वीकृति दे दी और दो आदमी उसके साथ कर दिये कि कहीं वह दगा देकर भाग न जाय । नर्मदा नदी पास ही थी, इसलिए वह मूर्तिको लेकर चला और नदीके बीचमें पहुंचकर पानीमें मूर्तिको सिराते समय यह कहने लगा कि मुझे बड़ा दुःख है कि मैंने जिस भगवानकी पूजा मैंने प्रति दिन की, उनको जीते जीते जी मैं नदीमें सिरा रहा हूं, मुझे मरनेका दुःख नहीं है । इतनेमें ही कहींसे आवाज आई कि हमें सिरा दो, तू तो बड़ा भाग्यशाली है । तूने अपने पूर्व भवमें इन चारों आदमियोंको मार डाला था, और उसके फलसे तुझे इन चारोंके हाथसे अलग अलग मरना था, परन्तु भगवानकी भक्तिके प्रसादसे तेरा ३ जगहका मरण तो कट गया और चारों आदमी अलग अलग न मार कर एक ही साथ तुझे मारनेको आये हैं । उस को बड़ी खुशी हुई । वह सिराने लगा तो जो दो डाकू साथ आये थे, उन्होंने भी उस आकाश-वाणी को सुन लिया था, इसलिए उन्होंने सोचा कि अभी इसको मूर्ति मत बहाने दो और उससे कहा कि भाई तुम एक बार हमारे साथ चलो, हम चारों आदमी कुछ सलाह करेंगे, फिर आकर भले ही इसे बहा देना और उसको अपने साथ वापस उसके घर ले गये । वहाँ पहुंचनेपर बाकी दो डाकुओंने पूछा कि वहाँ क्या हुआ तो उन डाकुओंने उनको सारी बात बताई । यह सुनकर चारोंने सोचा कि भगवानने तो इसके तीन मरण काट दिये तो क्या हम इसका एक भी मरण नहीं काट सकते और उन्होने उसे मारने और धन लूट ले जानेके बजाय उसी प्रकार छोड़ दिया और हाथ जोड़कर वे चारों चले आये । इसी प्रकार आपके शुभोपयोग और पुण्य कितने ही प्रकारकी आकुलताओंको नष्ट कर देते हैं, तो धर्मरूप परिणति जो कि अतीन्द्रिय परिणतिका घात करती है, ऐसा क्या उस रही सही विभावपरिणतिको भी नष्ट नहीं कर सकती ? बाह्यदृष्टि छोड़कर अन्तर्दृष्टि करो, वस्तुतः तो धर्म ही आकुलताको नष्ट करता है । समवशरणकी बात करते हो तो समवशरण तो यहाँ भी है, जहाँ आप रोज आते हो । ठीक दृष्टि करके देखो तो दिव्यध्वनि ही यहाँपर नहीं मिलेगी, और सारी चीजें यहाँ मिल जायेंगी ।

अन्तर्दृष्टिके आलम्बनका अनुरोध—ज्ञानी जीव व्यवहारका अवलम्बन नहीं करता, वह तो व्यवहारमें आता रहता है । अवलम्बन रखता है तो वह निश्चयका ही अवलम्बन रखता है । जब स्वानुभवकी अवस्था आती है तो निमित्त हट जानेकी हालतमें ही आता है । अब तक तो इस जीवने व्यवहारका आश्रय कर करके अपने आपको जो कुछ माना, वह तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्रिया ही किया है, परन्तु जो दृष्टि आज तक उसने नहीं पाई, उस दृष्टिका आलम्बन करना चाहिए। उस दृष्टिमें सत्यरूपसे व्यवहार भी जगमग आ जाता। इस प्रकार जो अभी अतीन्द्रिय सुखकी श्रद्धा कर लें, वे तो निकट भव्य जीव हैं और जो जो आगे श्रद्धा करेंगे, वे दूर भव्य जीव हैं। मनुष्य भव अति दुर्लभ है, झट आत्मस्वरूपकी ओर आवो।

अब इन्द्रियज्ञानका इन्द्रियसुखके साथ सम्बंध बताते हुए इन्द्रियसुखका कुहेतु और कुफल दर्शाते हुए उपेक्षामार्गको प्रबल बनवाते हैं। जिन जीवोंके ज्ञान परोक्षज्ञान है अर्थात् इन्द्रिय और मनके निमित्तसे ज्ञान व्यक्त होता है, उनके जो इन्द्रियसुख होता है, वह अपरमार्थिक है, आभास है, आकुलता रूप है, इस बातका विचार करते हैं।

मणुआऽसुरामरिंदा अहिद्द दुआ इंदिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६३॥

ऐन्द्रिय वेदनाओंसे पीड़ित नरेन्द्र देवेन्द्रोंके भी ज्ञानकी परोक्षता—साधारण मनुष्य व असुर व अमर आदिकी तो बात ही क्या, इनके व इन्द्र, चक्रवर्ती, असुरेन्द्र, देवेन्द्र आदि प्राणियोंके भी प्रत्यक्षज्ञान तो है नहीं। अतः परोक्षज्ञानका आश्रय बन रहा है, सो परोक्षज्ञान का आश्रय करने वाले इन जीवोंके भी इन्द्रियोंमें मित्रता चल रही है, क्योंकि इन्द्रिय परोक्षज्ञानके विकासमें निमित्त है। वस्तुतः प्रत्यक्षज्ञान तो केवलज्ञान है। केवलज्ञान होनेसे पहिले जितनी भी प्रवृत्ति देखी जाती है, वहाँ परोक्षज्ञान ही प्रवृत्तिका सहायक है। परोक्षज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है, कहीं इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु इन्द्रियवृत्ति परोक्षज्ञानमें निमित्तमात्र हैं। जैसे देखने वाली तो आँख हैं, देखना आँखसे होता है, किन्तु जिसकी आँख कमजोर है, उसको देखनेमें चश्मा निमित्तमात्र है। वह लौकिक जनोंके परिचयमें अच्छी तरह से आया हुआ है। चश्मा जड़ है, कांच है, वह देखने वाला नहीं है, किन्तु देखने वाला नेत्र है। वस्तुतः देखने वाला भी नेत्र नहीं है, किन्तु आत्मा है, परन्तु आत्मा स्वरूपदृष्टिसे च्युत रहनेके कारण इतना अशक्त, ऐसा देखने वाला भी हो गया है कि वह इस अवस्थामें इन्द्रियवृत्तिके निमित्तके अभावमें जान नहीं सकता है।

परोक्षज्ञानमें विषयवेदनाकी पीड़ायें—यहाँ कहीं इन्द्रियोंसे जानना नहीं होता है, किन्तु जानना तो आत्मासे ही होता है, परन्तु परोक्षज्ञानीके ज्ञानके विकासमें इन्द्रियवृत्ति निमित्तमात्र है। सो ये परोक्षज्ञानी प्राणी इन्द्रियाभिलाषाकी पीड़ासे सताये गये उस दुःखको न सहन करते हुए रम्यविषयोंमें रमण करते हैं। विषय जितने हैं, वे सब जड़ हैं। वे स्वयं न रम्य हैं, न अरम्य हैं। विषयभूत अर्थ तो निज स्पर्श रस गंध वर्णके परिणमनसे परिणमते रहते हैं। मोही जीव ही अपनी कषायके अनुकूल पदार्थोंमें कल्पनायें करता रहता है, सो विषयाभिलाषीको जो विषय विषयेच्छाके क्षणिक दूर होने रूप सुखाभासमें निमित्त है, उन्हें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो रम्य समझता है, और जो इच्छाके विपरीत प्रतीत होते हैं, उन्हें आरम्य समझने लगता है।

ऐन्द्रिय वेदनाके असहनसे विषयविपत्तिमें पतन—अपने कषायभावके कारण विषयोंके प्रेमरूप विकल्प होता है, फिर उस विकल्पजन्य दुःखकी निवृत्तिके लिए विषयका ही उद्यम होने लगता है, यह सब इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है, सो विषयसुखके लोभियोंको विषयसुखकी साधन सामग्री जो इन्द्रिय व मन है, उसमें प्रीति हो जाती है, सो इन्द्रियोंमें मित्रताको प्राप्त करने वाले प्राणियोंको उदित मोहरूप अग्निने ग्रस लिया है, सो उनमें अत्यन्त तृष्णा उत्पन्न हो गई है। जैसे अत्यन्त गर्म किया लोहेका गोला ऐसा संतप्त हो रहा है कि पासके पानीको शीघ्र सोख लेता है, वैसे ही इन्द्रियविषयाभिलाषासे यह जीव ऐसा संत्रस्त हो गया है कि उस दुःखके वेगको सहन न कर सकनेसे वह विषयविपत्तिमें गिर पड़ता है। जैसे व्याधिसे त्रस्त रोगी व्याधिका प्रतीकार करता है, इसी तरह इन्द्रियाभिलाषकी व्याधि वाला यह रोगी संसारी प्राणी विषयोंके भोगसे प्रतीकार करता है। इसलिए मोही परोक्षज्ञानी जीवों के वास्तवमें सुख कहाँ है ? वह तो कल्पित सुखाभास है। ऐसे सुखाभासमें ही रत होकर मोही प्राप्त हुई ज्ञानशक्तिको व्यर्थ गंवा देते हैं। इन सब अनर्थोंका कारण वास्तविक तत्त्वका अपरिज्ञान है।

आत्मार्थानुभवनका अनुरोध——आत्मतत्त्व आत्मार्थानुभवगम्य है। यह आत्मपदार्थ द्रव्यमय है, द्रव्य गुणात्मक है, इन गुणोंसे पर्याय प्रकट होती है। जगतके जीवोंको इन पर्यायों का परिचय है, परन्तु पर्यायोंका मूल स्रोतरूप गुणोंका परिचय नहीं, गुणोंके अभिन्न आधारभूत द्रव्यका परिचय नहीं और द्रव्यके निर्विकल्प ज्ञानमात्रसे अनुभाव्य अर्थका दर्शन नहीं है। देखो भैया ! कितना कष्ट है, अपने सहजस्वरूपके उपयोग द्वारा च्युत होकर लड़कता खड़कता कहां जाकर अटका है ? कहाँ तो अर्थानुभवका सहज आनन्द और वहां पर्यायमूढ़ताका महान् क्लेश। हे आत्मन् ! बहुत भटक लिए पर्यायमूढ़ बनकर इन्द्रियोंके दास होकर विषयकी गहन अटवीमें। अब उनको अपने विकास-महलमें बसो। पर्यायकी मुग्धता छोड़कर यह देखो पर्यायों का उद्गम कहाँसे हुआ ? गुणोंसे। गुण क्या बिखरी वस्तु है ? उनका अखण्ड एक अभिन्न पिण्ड द्रव्य सत् है। सर्व भेद विकल्पोंसे हटकर अभेद स्वरूप निज आत्मद्रव्यका अनुभव करो। इन्द्रियोंसे सुख होता है, इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है, इस भ्रमको छोड़ो। तुम ही तो स्वयं सहज स्वभावसे ज्ञानमय हो, आनन्दमूर्ति हो। अब इन्द्रियोंकी मित्रता छोड़कर ध्रुव मित्र आत्मतत्त्वको निरखो व अपना समय सफल करो, पर्यायोंमें दृष्टि फंसाकर जीवन व्यर्थ न खोओ। यहां जो भी समागम है, वह पर्यायोंका प्रसार ही तो है।

स्वभावद्रव्यपर्याय—पर्याय दो प्रकारसे है—१. द्रव्यपर्याय, २. गुणपर्याय। द्रव्य-

Version 1

पर्याय भी २ प्रकारकी है—१. स्वभावद्रव्यपर्याय २. विभावद्रव्यपर्याय। द्रव्यपर्यायका दूसरा नाम व्यञ्जनपर्याय भी है। जो प्रदेशोंका आकार होता है वह द्रव्यपर्याय कहलाता है। स्वभावद्रव्यपर्याय तो धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य व कालद्रव्यके शाश्वत रहता है। पुद्गलद्रव्यके परमाणुमात्र अवस्थामें स्वभावद्रव्यपर्याय कहा है। यद्यपि वस्तुतः परमाणु ही द्रव्य हैं, स्कंध द्रव्य नहीं, परन्तु अनेक परमाणुवोंका मिलकर एक पर्याय स्कंध बनता है, इस दृष्टिसे उस पर्यायसे निवृत्त करनेके लिए परमाणुमात्रके स्वभावद्रव्यपर्यायका कथन किया है। जीवद्रव्य में मुक्त परमात्माके स्वभावद्रव्यपर्याय कहा है। प्राणियोंकी दृष्टि स्वभावद्रव्यपर्यायपर भी कठिनतासे पहुंचती है। यदि स्वभाव द्रव्यपर्यायपर भी दृष्टि पहुंचे तो उसे छोड़कर स्वभावदृष्टि बनानेमें कुछ सुकरता आ सकती है।

विभाव द्रव्यपर्याय—विभावद्रव्यपर्याय २ प्रकारका है—१. समानजातीय द्रव्यपर्याय, २. असमानजातीय द्रव्यपर्याय। समानजातीय द्रव्यपर्याय तो पुद्गल स्कन्धोंकी है, क्योंकि समान जाति वाले अर्थात् पुद्गल परमाणुवोंका मिलकर वह स्कंधपर्याय बना है। वस्तुतः तो वहाँ भी द्रव्य सत्की दृष्टिसे देखो तो सर्व परमाणुवोंका अपना-अपना आकार अलग है, फिर भी वह अतिसंघातसे स्कंध बना है। अतः वह समानजातीय द्रव्यपर्याय हुआ। मनुष्य नरक तिर्यंचदेव ये सब असमानजातीय द्रव्यपर्याय हैं, क्योंकि मनुष्य आदि जीवद्रव्य अनेक पुद्गल कर्मवर्गणायें अनेक नोकर्मवर्गणायें इनका पुञ्ज आकार है। ये चेतन तथा अचेतन ऐसे असमान जातिके द्रव्योंसे यह पर्याय हुआ है। जगत्के मोही प्राणी इन्हीं पर्यायोंमें मुग्ध बन रहे हैं। जो शरीर मिला, जो समागम मिला, इस ही में एकमेक बने जा रहे हैं। एक माननेसे कहीं वस्तुतः एक नहीं हो जाता है, केवल कल्पनासे आकुलित बने रहते हैं।

गुणपर्याय—अब गुणपर्यायकी कथा सुनिये—गुणपर्याय कहते हैं गुणोंकी प्रतिसमय की अवस्थावोंको। गुणपर्याय दो प्रकारके हैं—१. स्वभावगुणपर्याय, २. विभावगुणपर्याय। स्वभावगुणपर्याय तो जैसे परमात्मा प्रभुमें है, यथा ज्ञानका केवलज्ञानपर्याय, दर्शनका केवलदर्शनपर्याय, सुखका अनन्त सुख शक्तिका अनन्तवीर्य आदि। विभावगुणपर्याय वे हैं, जो स्व परके प्रत्ययसे उत्पन्न होते हैं, इनमें तारतम्य भी अवश्य पाया जाता है। विभावगुणपर्याय जीवमें तो मतिज्ञानादि, चक्षुर्दर्शनादि, क्रोध, मान, माया, लोभ, आकुलता आदि हैं। तथा स्कंधोंमें ये सब ज्ञानमें आ रहे—रूपविशेष काला, पीला, रसविशेष खट्टा, मीठा आदि, गंधविशेष सुगंध, दुर्गन्ध, स्पर्शविशेष रूखा, चिकना आदि है। जगतके मोही जीव इन विभावगुणपर्यायोंमें आसक्त हो रहे हैं। इन्द्रियविषयाभिलाषकी पीड़ासे ऐसे पीड़ित हो गये हैं कि कल्पित विपर्यायोंमें दीपपर पतंगा (कीड़ा) की तरह गिरे जा रहे हैं। अहो, मोहका प्रसार देखो जहां सारका नाम भी नहीं है, उसीको सार समझा जा रहा है। इस सबका कारण तत्त्वके परि-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञान श्रद्धाका अभाव है ।

आत्मार्थानुभवका प्रसाद—आत्मतत्त्वको पानेके लिये भैया ! यह उपाय करना है कि पर्यायें जहांसे उद्भूत हुईं, उनकी दृष्टि रखकर पर्यायोंको गुणोंमें विलीन कर दो, और गुणोंका अभेद आधार देखकर गुणोंको द्रव्यमें विलीन कर दो, और द्रव्यदृष्टिकी ऐसी विशुद्धता बतावो कि द्रव्यका भी विकल्प टूटकर मात्र आत्मार्थानुभव रह जाय । पर्यायकी मुग्धता सर्वप्रथम छोड़ ही देना चाहिये । विषयवृत्तिका मूल पर्यायमोह है, और विषयप्रवृत्तिका साधन इन्द्रियज्ञान है । ये इन्द्रियवृत्तियाँ व्याधि हैं । इस व्याधिवालोंको पारमार्थिक सुख नहीं हो सकता ।

इन्द्रियसुखकी अपरमार्थिकता—इन्द्रियसुख अपारमार्थिक है, ऐसा यहाँ विचार किया है । जिन प्राणियोंके अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावपर ही लक्ष्य नहीं होता, उन प्राणियों की इन्द्रियोंसे मित्रता है । प्राणी और आत्मा शब्दमें भी फर्क होता है । जिनके प्राणोंमें राग है, उन जीवोंको प्राणी शब्दसे संबोधित किया गया और जो कुछ विवेकी होते हैं और अपने ज्ञानस्वभावके निकट पहुंचते हैं उन जीवोंको हे आत्मन् इन शब्दोंसे कहते हैं । कहते कि इन प्राणियोंके प्रत्यक्षज्ञान तो है नहीं और उनके परोक्षज्ञानका ही सहारा है । परोक्षज्ञानकी सामग्री इन्द्रियां होती हैं । परोक्षज्ञानका सहारा लेने वाले इन प्राणियोंके परोक्षज्ञानकी सामग्री जो इन्द्रियां हैं उनमें उनकी सदा मित्रता चलती है । जिनके इन्द्रियोंमें मित्रता आ गई ऐसे इन जीवोंके उदयमें आये जो महामोह दावानल, जो नहीं सहे जा सकते, तो उस दुःखको सहते सहते, व्याधियोंको प्राप्त होते होते कभी कोई स्थिति ऐसी आई कि कुछ व्याधियां कम हुईं या दब गईं अथवा कुछ देरके लिए उन व्याधियोंकी दवा लगी, उस दवाका जो सुख हुआ उसमें अपनी बुद्धि रखते हैं । कहते हैं कि व्याधियोंकी दवा । दवा किसे कहते हैं ? जो रोगी के रोगको दबा देती है, जड़से नहीं मिटाती । जो रोगको जड़से नहीं निकाल दे वही दवा है । संसारी सुख, इन्द्रियोंका सुख, उन व्याधियोंके लिए उसी प्रकारकी एक दवा है जो उस दुःख को दबा देती है, जड़से नहीं मिटाती । परन्तु इसके विपरीत औषधि ज्ञानावलम्बन, वह तो अमृत है और उससे क्लेश रोग मूलसे नष्ट हो जाता है ।

इन्द्रियसुखमें सुखकी भ्रान्ति—तृष्णासे दुःखको नहीं सह सकने वाले प्राणीको विषय की दवा मिली और उसके विषय राग उत्पन्न हो गया, फिर क्या हुआ ? रागकी तरह तो ये इन्द्रियां हुईं और रोगकी दवाकी तरह यह विषय हुए । उसे प्राणीके विषयोंके प्रभावसे इच्छाएं बदलती रहती हैं, इसलिए उसे सुख मिलता है या सुख मालूम देता है । उस समयमें वह ऐसा समझता है कि उसे सुख हुआ । जैसे कोई कुत्ता हड्डी चबाता हो उस बीचमें कुछ खूनकी बूँद भी उसके मुंहमें आ जाय तो वह यह समझता है कि इस हड्डीमें से खून खाया और उसी हड्डीमें श्रद्धा करने लग जाता हैं, और उसकी रक्षा दूसरे कुत्तेसे लड़कर भी करता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है । उसी तरह मोही जीवके परपदार्थके विषयोंमें उनके सेवनमें सुखकी प्रवृत्ति होती, उसके कारण उसने यह माना कि विषयोंसे यह सुख आया, इसलिए वह भी विषयोंकी आसक्ति करता और उसके सिवाय कोई दूसरी निज चीजका आश्रय नहीं करता । इस प्रकार छद्मस्थ जीवोंके वास्तवमें सुख नहीं हो सकता । हमारे जितना इन्द्रिय सुख है, वह तो मात्र दुःख है । इनमें सुखकी श्रद्धा मत लाओ । इसके विपरीत जो स्वानुभवका सुख है, जो अतीन्द्रिय सुख है वह इन सुख और दुःखोंसे कितना विपरीत है ?

सांसारिक सुखोंके व्यामोहमें अनन्त निधिका घात—जैसे किसी रईस जागीरदारके मरनेपर लड़का नाबालिग रह जाता है, और सरकार उस रईसकी सारी जायदाद कोर्ट कर लेती है तथा उस नाबालिग लड़केको १००) रु० माहवार खर्चके लिए दे दिया करती है, और वह लड़का नाबालिग अवस्थामें सरकारके गुण गाया करता है, वही जब बड़ा हो जाता है, और समझ आती है कि मेरी करोड़ों रुपयेकी जायदाद सरकारने कोर्ट कर ली तो वह सरकारपर दावा कर देता है कि मैं बालिग हो गया हूं । इसी तरहसे जिसका ज्ञानसुख कोर्ट हो गया, पुण्य सरकारने उसे छीन लिया, उस नाबालिग अवस्थामें जरा पुण्य सुख मिला, जरा धन वैभव आदि मिले, तो उस पुण्य सरकारकी स्तुति करते हैं, और कदाचित् दुःख हो जाय तो कहते हैं कि कर्म फूट गये । परन्तु कर्म तो सिद्धोंके फूटा है अर्थात् समस्त कर्मकलङ्कोंका क्षय हो गया है । तुम्हारे कर्म कहां फूट गये ? यदि इस समय पुण्यकर्म नहीं रहे तो पापकर्म तो है, फिर कर्म फूटा कहाँ ? कर्म तो सिद्धोंका ही फूटा है । यदि तुम्हारे भी कर्म फूट जाते तो तुम भी सिद्ध हो जाते । जैसे कि पुण्यके कारण कुछ सुख हमें मिला तो हम उस पुण्य सरकारकी स्तुति करते हैं । जब यह सम्यक्दृष्टि या बालिग हो जाता है तो यह सोचता है कि मैं तो स्वभावसे ही ज्ञानसुखका पिण्ड हूँ । ज्ञानसुख तो मेरा स्वभाव ही है, सुखमें मेरी परिणति स्वयंसे ही होती है, फिर संसारी सुखोंमें मेरी दृढ़ता कैसे हो गई ? तो फिर क्या किया ? ऐसे इस पुण्यके विरुद्ध दावा कर दिया और उससे कहा कि हे पुण्य ! तू मेरा साथ छोड़ दे । भेद किया कि वह सम्यग्दृष्टि हो जाता, जब यह सम्यग्दृष्टि हो जाता तो पुण्य सरकारको जीत लेता । वह जीव भव्य होता है और संसारसे पार हो सकता है, और जो विषय सुखोंमें सुखबुद्धि करता है, और यहीं सड़ता है, गलता है, वह संसार क्लेश ही सहता, उसका मोक्षमार्ग नष्ट हो जाता है ।

अब श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य देव सयुक्ति निर्णय देते हैं तथा मुमुक्षुवोंको पूर्ण निश्चय कराकर उपेक्षासम्बंधी आगेके मार्गमें पहुंचनेका मौन आदेश देते हुए यह वितर्क कराते हैं कि जहाँ तक ये इन्द्रियाँ हैं, वहां तक दुःख होना स्वाभाविक बात है ।

जेसिं विषयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जइ तं णहि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ।।६४।।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विषयरतिमें क्लेशकी प्राकृतिकता—जिनका विषयोंमें प्रेम है, उनको दुःख स्वाभाविक है। यहाँ स्वाभाविकसे तात्पर्य आत्माके स्वभावसे अन्य निमित्त निरपेक्ष होता है, यह अर्थ नहीं लेना, किन्तु जो विषयोंमें प्रेम करता है, अब उसे दुःखी होनेके लिये कुछ प्रतीक्षा नहीं करनी है, विषयराग ही दुःखको लेकर उठता है अथवा दुःख नामकी परिणति किसी बाह्य पदार्थसे नहीं होती, आत्माके आनन्दगुणके विभावपरिणमनसे ही दुःख होता है, परंतु विभाव-परिणमन निमित्तके असद्भावमें नहीं हो सकता। जब कर्मोदयादिक बाह्य निमित्त उपस्थित हो और आत्मा विषयोंमें प्रेम करे तो अब देख लीजिये कि दुःख होना प्राकृतिक बात है या नहीं। जैसे अग्निकी यथाविधि सन्निधि प्राप्त हो, वहाँ जलका गर्म होना प्राकृतिक है। इसी तरह कर्मोदयको निमित्त करके जब विषयोंमें प्रेम होता है तब दुःख होना भी प्राकृतिक है।

इन्द्रियोंकी उद्धततामें अनर्थ—जिन प्राणियोंके हत्यारी ये इन्द्रियाँ जीवित हो रही हैं, प्रचण्ड हो रही हैं उनकी विषयोंमें रति होती है और उनको दुःख होना स्वाभाविक ही है। इन्द्रियोंकी उद्धततासे उन्हें तुरन्त दुःख मिल ही जाता है। उनका वह दुःख कहीं विषयभूत पदार्थोंसे नहीं हुआ है किन्तु इन्द्रियविषयाभिलाषका स्वरूप ही दुःख लिए हुए है। जिन प्राणियोंने असमानजातीय पर्यायरूप देहमें अहंबुद्धि करली है कि शरीर ही मैं हूं वे शरीरके व्यवहारमें ही तो लगेंगे, जैसे कि चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वमें जिन्हें अहंपनेकी श्रद्धा हुई है वे मैं चैतन्यमात्र हूं, ज्ञाताद्रष्टा रहना मेरा कार्य है, इस भावनासे आत्माके व्यवहारमें लग जाते हैं। जो शरीरमें आत्मपनेके व्यवहारसे लग जाते हैं उन्हें इन्द्रियविषयाभिलाष होना आवश्यक ही है और इन्द्रियविषयभिलाषकी वेदनासे पीड़ित होकर विषयोंमें रति हो जाना स्वाभाविकी प्रेरणा है। यह प्रेरणा इन्द्रियोंके विभावके स्वभावका फल है, आत्माकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति नहीं समझता इसीलिये दुःख होना स्वाधीन हो गया। क्योंकि इन्द्रियोंकी उद्धतताका स्वभाव ही ऐसा है। इस सारी गड़बड़ीका कारण अविद्या है। अविद्याका मूल है देहमें आत्मबुद्धि।

ऐन्द्रियवेदनासे विषयविपदाभिपात—अहो! यह आत्मा स्वयं स्वरूपसे सहज असीम ज्ञान व आनंदका घर है, परन्तु इस नाथने अपनी ही अविचारतासे क्या परिस्थिति बना ली? हे आत्मन्, अभी भी कुछ बिगड़ा नहीं है, यह सत्स्वरूपकी स्वाभाविकी व्यवस्थाका फल है। यदि परके उपयोगको छोड़कर निज सहज शुद्ध चैतन्यसामान्य स्वभावमें उपयोग देवे तो अभी ही सारी आपत्तियाँ किनारा कर जावेंगी। यह सब अपनी असावधानीका फल है कि नाना द्रव्यपर्यायों और विविध गुणपर्यायोंमें पिसकर विपर्यं व विह्वल होना पड़ रहा है। जीव पुद्गल दोनोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुई इन मनुष्य पशु आदि अवस्थाओंमें ही जब आत्म-संस्कार पड़ चुका तब आत्मस्वरूपकी तो संभावना तक भी मैं असमर्थ हो गया। इसी कारण अचेतन पदार्थोंमें भी तीव्र आसक्ति हो गई है। शरीरकी पोषणा व विषयोंकी साधनामें जो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/
जो भी अन्य बाह्य अर्थ निमित्त पड़ रहे हैं उनमें भी आसक्ति हो गई है। इस आसक्तिके फलमें बाह्य अर्थका समागम बनाना चाहता है किन्तु किसी परद्रव्यके विषयमें कुछ भी परिणमन कोई अन्य नहीं कर सकता है। उनका परिणमन इस आत्माके आधीन तो है नहीं, अतः अनुकूल प्रतिकूल परिणमनमें नाना संकल्प विकल्पोंका क्लेश होना आपतित है ही। यह सब दुःख कही किसी उपाधिसे नहीं आ रहा है किन्तु इन्द्रियविषयाभिलाषियोंको यह दुःख इंद्रियोंके स्वभावसे स्वयंमें हो रहा है। इंद्रियोंसे प्रयोजन यहाँ भावेन्द्रिय है। भावेन्द्रियके कार्य में द्रव्येन्द्रिय निमित्त है। यह सब दुःख उनके स्वयं ही है, इसका हेतु यह है कि उनकी विषयोंमें रति देखी जाती है। यदि उन्हें दुःख न होता तो विषयविपत्तिमें क्यों गिरते ?

स्पर्शनविषयासक्तिसे अनर्थ—सुना है कि हाथी पकड़े जाते हैं गड्ढेमें गिराकर। कहीं गड्ढेमें कोई अन्य गिराता नहीं है, हाथी स्वयं ही आशावश ऐसी प्रवृत्ति करता है कि गड्ढेमें गिर पड़ता है। हाथी पकड़ने वाले लोग जंगलमें एक गड्ढा खोदते हैं, उसपर एक हथिनी कागजकी बनाते हैं, और एक ओर ५० हाथ दूरपर एक दौड़ता हुआ हाथी भी बनाते हैं। उस जंगलमें बनहस्ती कुट्टिनी हथिनीको सच्ची हथिनी ही समझता है। यह तो हुआ उसका अज्ञान, मोह। फिर हथिनीसे रागभाव होनेके कारण वह वहां दौड़ता है, यह हुआ राग। उसके जल्दीसे दौड़नेमें एक कारण और बनता है कि वह दूसरे हाथीको इस प्रकार देखता है कि वह दौड़कर हथिनीकी ओर आ रहा है, कहीं यह मेरे विषयसाधनको न बिगाड़ दे, इस आशयसे उस कूट हाथीपर भी (जिसे कि वह सच्चा समझ रहा है) द्वेष करता है, इसी कारण शीघ्र हथिनीके पास पहुंचता है। देखो भैया! जिसे मोह अज्ञान होता है, उसे पद-पद पर अज्ञान ही छाया रहता है। उस हाथीको कितना अज्ञान साथ लगा हुआ है ? झूठे हाथीको हाथी समझ रहा है, झूठी हथिनीको हथिनी समझ रहा है, गड्ढेको भी साफ मैदान समझ रहा है, अपने शरीरको स्वयं आत्मा समझ रहा है, विषयकषायके भावोंको हितरूप समझ रहा है। ध्रुव निजस्वरूपका भान ही नहीं है।

हाथी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है, पशुवोंमें सबसे प्रधान बुद्धिमान माना गया है। इसमें वह योग्यता है कि समस्त मिथ्याभावोंको दूर करते हुए अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामों द्वारा अनंतानुबंधी कषायका विसंयोजन और दर्शनमोहनीयका उपशम करके उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेता है। यदि पहिले इस ही भवमें या अन्य भवमें उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न किया हो, और अब वेदकसम्यक्त्व योग्यकाल हो तो अधःकरण व अपूर्वकरण परिणाम द्वारा क्षयोपशम (वेदक) सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेता है। परन्तु देखो मोहकी लीला! सम्यक्त्वकी बात तो दूर रही, लौकिक सभ्यता व विवेक भी इसे नहीं है। हाथी मोह, राग और द्वेषवश अपनी चेष्टा करता है और वहां गड्ढेमें जाकर गिर जाता है। यह है स्पर्शनेन्द्रिय-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जन्य विषयवासनाकी उद्धतताका फल। यदि विषयासक्ति न होती तो क्यों विपत्तिमें पड़ता ? दुःख हाथीको कहीं हथिनी या हाथी अथवा गड्ढा आदि किसी अन्यके कारण नहीं हुआ है। यह तो उसकी इन्द्रियवासनाके कारण होना ही पड़ता है, सो हुआ है। ऐसा ही यहां कितने ही मनुष्योंमें भी पाया जाता है। मनुष्य भी तो सारा ज्ञान खोकर विषयवासनाकी प्रेरणामें विषयोंमें प्रवृत्त होता है। चाम हाड़ वाले शरीरसे कौनसी शांतिकी बात निकालना चाहता है अपना वीर्य खोकर ? हे आत्मन्! अपना वीर्य देखो, ज्ञानदर्शनके शुद्ध विकासका प्रभाव देखो। शांतिमार्गमें उत्साह बढ़ावो। विषयमार्गसे अपना घोर अहित कर डालोगे। ज्ञानमार्गसे अपना पूर्ण हित कर लोगे। विषयमार्गमें तो दोनों भवोंमें आपत्तियां ही हैं।

रसनेन्द्रियविषयासक्तिसे अनर्थ—अब रसनेन्द्रियके विषयकी दशा देखो! अपनेपर जो बीतती है वह तो अपने अनुभवमें है ही, उस आपत्तिपर दृष्टि नहीं देते, क्योंकि जहाँ इतना अज्ञान हो कि आकुलता-सुखाभास ही जहाँ सुख दिखता हो, वहाँ सद्बोधकी कथा ही क्या ? अपनी आपत्तिपर ध्यान नहीं जाता। तो देखो इसी रोगकी परकी विपदायें। मछली रसनेन्द्रियके विषयके लोभमें आकर कहाँसे कहाँ स्थान पाती ? विषयासक्तिसे पहिले वह तालाबमें केलि कर रही थी, अब वशीके फंदेके पास लगे हुए मांसखंडकी ओर झुककर लोहेकी फांसमें फंस रही है, और उसका अंतका परिणाम क्या होगा ? सो प्रायः लोग जानते ही हैं। ये बधिक लोग आगमें भून डालते हैं। यहाँ भी तो देखो आज लोग त्राहि त्राहि मचा रहे हैं कि खर्च बहुत है क्या करें ? यह सब खर्च रसनेन्द्रियके लोभसे तो हुए हैं तथा चामके शृङ्गारसे। भैया! मनुष्यभवको तो धर्मसाधनमें लगाना था, परन्तु मनुष्योंने किया क्या ? साधारण भोजनदानसे क्षुधा तृषाकी पीड़ा मेटकर धर्मसाधनमें जीवन व्यतीत करो, फिर आनन्द ही आनन्द है। अन्यथा विषयाभिलाषामें मरणकर पीछे पछताने तककी भी बुद्धि नहीं रहती।

घ्राणेन्द्रियविषयासक्तिसे अनर्थ—देखो तो भ्रमरकी गंधाभिलाषाको। वह शामको कमलकी गंधमें आसक्त हुआ कमलमें पहुंचता है, सूर्यास्त होनेके अनन्तर कमल बंद हो जाता है, उस बन्द कमलमें वह या तो वायुके संचार न होनेसे वहीं स्वयं मर जाता है या अन्य कोई हाथी आदि तोड़कर उस कमलको चबा जाता है। देखो भैया! कहनेको तो कमल एक सुन्दर वस्तु है, परन्तु खतरनाक कितना है ? कमलका पिता नीर (जल) भी कमलसे सम्बंध नहीं रखना चाहता, दूर रहता है, और कमलका मित्र सूर्य कमलसे हजारों योजन दूर रहता है। परन्तु गंधलोभी यह भ्रमर जिसमें इतनी सामर्थ्य है कि काठको भी फोड़कर निकल जाय, कमलके नाजुक पत्तोंमें बंद रहकर प्राण गंवा देता है। यहाँ भी देखो भैया! गंधका कितना लोभ बना रखा है ? सामने टेबलपर अगरबत्ती जलना, कानमें इत्रका फोवा होना, कोटोंपर इत्र मसलना, मस्तिष्कपर चन्दन सेन्ट होना, गलेमें फूलमाला होना, नासिकाके पास फूल लिये

Version 1

रहना कितना गजब है, और देखो भैया जरा शरीरसे पसीना निकला कि सब गुड़गोबर हो गया।

नेत्र और कर्णके विषयमें आसक्तिसे अनर्थ—विषयोंकी वृत्तिमें दुःख ही दुःख है। इससे ही अन्दाज कर लो। यदि विषयोंमें दुःख न होता तो विषयोंसे थककर विषयको छोड़ते क्यों? स्त्रीभोग, भोजनभोग, गंधभोग, रूपदर्शन, रागश्रवण देर तक कोई नहीं चाहता, ऊबकर उन्हें छोड़ना ही पड़ता है। भ्रमरकी भाँति ही चक्षुरिन्द्रिय विषयके लोभी पतंगेकी भी तो दशा देखो! पतंग तो एकदम रूपके लोभमें दीपकपर गिर पड़ता है और मर जाता है। हरिण भी रागमें इतने अंधे होते हैं कि शिकारीके रागालापके प्रेमी बनकर पास खड़े हो जाते हैं और पकड़े जाते हैं। देखो विषयाभिलाषका कितना क्लेश है? रहा नहीं जाता विपत्तिमें पड़े बिना।

क्लेश बिना विषयव्यापारकी असंभावना—विषयोंमें जो इतना व्यापार होता है, वह बिना क्लेशका प्रयोग नहीं है। जैसे जिसे ज्वर नहीं है, वह काहेको पसीना लेनेका प्रयास करेगा, जिसकी आँखोंमें रोग नहीं है, वह क्यों खपडियोंका चूर्ण आँखमें आंजेगा, जिसके कानमें दर्द नहीं है, वह क्यों बकरेका मूत्र कानमें डालेगा? देखो ना! जब तक घाव रहता है तभी तक मलहमका उपयोग किया जाता है। घाव पूरा भर गया या जिसके घाव ही नहीं है, वह क्या मलहम लगानेकी बेवकूफी करेगा? ये सब विपत्तियां इन्द्रियोंकी उद्धततासे हैं। जिनकी इन्द्रियाँ विषयके अर्थ प्रबल हो रही हैं, उनके दुःख होना स्वाभाविक बात है। अतः बंधुवो! जिन इन्द्रियोंमें मित्रता बना रखी है, वह गहरा धोखा है। इस शरीरका, इन्द्रियोंका विश्वास छोड़कर यही श्रद्धा करो कि आत्माका स्वभाव इन्द्रियरहित है, निज चैतन्यस्वरूप है। स्वभावकी उपासनासे प्रकट होने वाला स्वभावविकास ही सुखकी सच्ची भूमि है। अतः परोक्षज्ञान भी हितरूप नहीं है। अपनेको तो सामान्य प्रतिभासमय अनुभव करो। परोक्षज्ञानमें व इन्द्रियजसुखमें हितकी बुद्धिका परिहार करो। जो पराधीन है, विषम है, सान्त है, उसमें हितकी कल्पना करना पागलपन है।

प्रश्न—अन्य बाह्य पदार्थ सुखके कारण हों या न हों, परन्तु शरीरका तो अतिनिकट सम्बंध है, और देखा भी जाता है कि शरीरके स्वस्थ रहनेसे आत्मा भी सुखी रहता है और शरीरकी पीड़ासे आत्मा भी दुःखी रहता है। सो कमसे कम शरीर तो अवश्य ही सुखका साधन होगा? इसके उत्तरमें गाथा सूत्र कहते हैं।

पप्या इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥६५॥

विषयप्रसङ्गमें भी आत्माके सुखरूपके परिणमनसे सुखका लाभ—इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये गये इष्ट विषयोंको पाकर भी यह आत्मा अपने ही सुख गुणके अशुद्ध परिणमनसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

परिणमता हुआ आत्मा स्वयं सुखस्वरूप होता है, देह सुखस्वरूप नहीं होता, और न देहसे सुख उत्पन्न होता है। मुक्त जीवोंके तो देह भी नहीं है, वहाँ वे पूर्ण सुखस्वरूप हैं। इस तत्त्व को समझनेमें तो सुगमता है ही, किन्तु जिन जीवोंके शरीर है और शरीरके निमित्तसे इन्द्रिय विषयसेवना भी हो रही हो, तथापि यह आत्मा स्वयंके सुख गुणके परिणमनसे परिणमता है, वहाँ देह सुखका साधन नहीं है। सुख आत्मासे ही प्रकट हुआ है। ये इन्द्रियाँ तो मद्यपायी पुरुषकी भाँति मत्त होकर तीव्र मोहके वश होकर विषयग्रहणमें प्रवृत्ति करती हैं, वहाँ आत्मा मोहके कारण यह अनुभव करता है, ये विषय मेरे लिये इष्ट हैं। इन कुसंस्कारोंके वश स्व-भावविरुद्ध आचरणोंसे परिणमते हुए इस आत्माका सहज वीर्य तो रुक गया। अब जो विपरीत बल मन, वचन, कायके अवलम्बनसे प्रकट है, उसके द्वारा योग करता है। वहाँ भी जो सुख हुआ है, सो निश्चयसे सुख गुणके परिणमनसे ही हुआ है। इस परिणमनमें जो देहीके ज्ञान, दर्शन व वीर्य प्रकट है, उसका ही सहयोग है, किसी बाह्य पदार्थका सहयोग नहीं है। प्रत्येक आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख व शक्ति—इन चारों गुणोंसे परिणमता है। मुक्त जीव भी इन चारों गुणोंसे परिणमते हैं, वे अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनन्तशक्ति व अनन्तसुखरूपसे परि-णमते हैं। यहाँ प्राणी एकदेशज्ञान, एकदेशदर्शन, एकदेशशक्ति व विकृतसुखसे परिणम रहे हैं। शरीर अचेतन है, वह सुखपरिणतिका उपादान कारण कभी हो ही नहीं सकता।

शरीरकी दृष्टिसे सुखका अलाभ—प्रश्न—शरीर सुखका उपादान कारण तो नहीं है, किन्तु इन्द्रियोंकी वृत्तिके निमित्तसे ही तो सुख प्रकट हो रहा है। सो शरीरको संभालना तो उचित ही होगा? उत्तर—परमार्थ सुखके द्रष्टा व इच्छुकोंकी किसी भी अवस्थामें शरीरपर हितदृष्टि नहीं रहती, वे तो शरीररहित स्थिति चाहते हैं। फिर भी प्राक् पदवीमें शरीरकी जो उचित संभाल होती है, वह रागकी चेष्टा है, उसे उचित कभी नहीं समझते। उचित तो चैतन्यस्वभावकी दृष्टिकी संभाल है। शरीर समानजातीय द्रव्य पर्याय है, वह अचेतन अनेक अणुवोंका पिण्ड है, आत्मा एक चेतन द्रव्य है। जिस द्रव्यमें जो गुण होते हैं, उन गुणोंसे उनकी पर्याय प्रकट होती है। शरीर तो रूप, रस, गंध, स्पर्शकी पर्याय करनेमें समर्थ है। आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति आदि निज गुणोंके परिणमनमें समर्थ है। संसारी सुखीके जो विषयसुख देखा जाता है, वह भी उस आत्माके सुख गुणकी विकृत पर्याय है, और जो दुःख देखा जाता है, वह भी आत्माके सुखगुणकी विकृतपर्याय है। आत्मा विकृत पर्यायके व्ययस्व-रूप स्वभावपर्यायके उत्पाद करनेमें स्वयं समर्थ है। स्वभावपर्याय निमित्तदृष्टिमें नहीं होती, परदृष्टिसे मात्र विकारका ही कारण बनता है, अतः शरीर आदि सर्व परद्रव्योंसे दृष्टि हटाकर एक चैतन्यस्वभावकी दृष्टि करो और प्रसन्न एवं आनन्दपूर्ण समृद्ध रहो।

प्रश्न—मनुष्यका शरीर तो अनेक व्याधिमय है, वह सुखका कारण नहीं है, सो तो

http://sahjanandvarnishastra.org/

ठीक है। परन्तु देवका शरीर तो दिव्य वैक्रियक है, रोगरहित है, स्फटिक समान स्वच्छ कांतिमान है, उसमें तो दुःखकी कोई बात नहीं है। अतः उसे तो सुखका कारण कहो। इसके उत्तरमें भगवान श्री कुन्दकुन्द प्रभु कहते हैं।

एगंतेरण हि देहो सुहं रण देहिस्स कुणइ सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६६॥

शरीरमें सुखोत्पादकताका अभाव—यह बात पूर्ण निःसंदेह निश्चित है कि शरीर प्राणीके सुखको उत्पन्न नहीं कर सकता है, वह चाहे स्वर्गमें उत्पन्न हुआ दिव्य वैक्रियक शरीर वाला भी हो। सुख तो ज्ञानका अविनाभावी है। अतः ज्ञानके अनुकूल सुखका भी परिणमन होता है। शरीर तो सभी अचेतन हैं, उनसे सुखके लिये क्या साधकता मिलेगी? आत्मा तो निश्चयसे विषयोंके बिना स्वाभाविक शाश्वत आनन्दस्वभाव वाला है। किन्तु अनादिकालसे कर्मबन्धनवश विषयोंकी दृष्टि करके परिणाम-परिणमकर सुख अथवा दुःखरूप स्वयं आत्मा होता रहता है। यहाँ भी देखो भैया! आत्मा अपने सुख गुणके परिणमनसे सुखी हो रहा है अथवा दुःखी हो रहा है। देव लोग भी तो संसारी विषय कषाय व इच्छा वाले होते हैं, उनकी इच्छा ही स्वयं सुखाभास एवं दुःखका कारण है, शरीरादि नहीं। वैक्रियक शरीर परमाणुवों का मिलकर एक स्कन्ध है, समानजातीय द्रव्यपर्याय है, अचेतन है, आत्मद्रव्यसे सर्वथा भिन्न है, दोनोंमें परस्पर अत्यन्ताभाव है।

शरीरका व आत्माका भिन्न-भिन्न परिणमन—तीन कालमें कभी भी आत्मा न तो शरीरके अंशमात्ररूप भी बनता, न कोई अणु आत्मा बन सकता। फिर कोई किसीका परिणमन करे, यह स्वप्नमें भी नहीं हो सकता अर्थात् कल्पना भी नहीं की जा सकती। शरीर अपने रूप, रस, गंध, स्पर्शके परिणमनसे परिणमता है, आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन, सुख व शक्तिके गुणके परिणमनसे परिणमता है। देव यदि मिथ्यापरिणामसे परिणम रहे हैं, तो शुद्ध स्फटिकसंकाश वैक्रियक शरीरमें भी रहते हुए घोर दुःखी हैं। यदि सद्दृष्टिदेव चैतन्यस्वभावके ध्यानसे परिणम रहे हैं तो वे सुखी कहीं देहकी शक्तिसे नहीं हैं, किन्तु आत्मस्वभावकी उन्मुखतासे हैं। यदि निमित्तदृष्टि भी लो तो देवोंका शरीर सत्य आनन्दमें बाधक है। विवेकी देव मनुष्यदेहके लिये तरसते हैं। देवशरीरमें रहकर आत्मा चतुर्थ गुणस्थानसे ऊपरका परिणाम वाला नहीं हो सकता। आजकल मुक्ति साक्षात् नहीं है। अतः सम्यग्दर्शनके रहते हुए मरण होता है तो देवगतिमें ही जन्म लेता है, परन्तु देवगतिमें उत्पन्न होकर और हजार देवांगनावों का समागम पाकर भी सम्यक्त्वके प्रभावसे सम्यग्दृष्टि खेदखिन्न नहीं होता। उन्हें कहीं वैक्रियक शरीरका सुख नहीं है, उन्हें तो आत्मध्यानसे होने वाली निराकुलताका सुख है।

देवगतिमें भी शरीरसे सुखकी अनुत्पत्ति—देवगतिमें जन्म शुभरागसे बंधी हुई प्रकृ-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तियोंका विपाक है, वह कही अमरदशा नहीं। हां, पुण्यका एक उदाहरण है। देवोंका जन्म उपपादशय्यापर स्वयं माता-पिताके बिना होता है। उत्पन्न होनेके अनन्तर अंतर्मुहूर्तमें जो कुछ सेकेन्ड या मिनट प्रमाण होगा, युवा हो जाते हैं, अवधिज्ञानी हो जाते हैं। इनकी सागरों पर्यन्त आयु होती है। जितने सागरकी आयु होती है उतने हजार वर्षमें क्षुधा लगती है सो शीघ्र कण्ठसे अमृत झर जाता है और क्षुधा शांत हो जाती है। जितने सागरकी आयु होती है उतने पक्षों (पखवाड़े) में श्वासोच्छ्वास वे देव लेते हैं। इनका शरीर वैक्रियक होता है, इस शरीरमें हड्डी रुधिर आदि नहीं है, कोई शारीरिक रोग नहीं होता। देवाङ्गनावों सहित सुखमें अपनी आयु व्यतीत कर डालते हैं। इनमें कितने ही सम्यग्दृष्टि होते हैं वे आत्मसुखके अभिमुख होते हैं। मोह देवोंके भी पाया जाता है सो इतने सुखसम्पन्न होते हुए भी तृष्णा—लालसाके वश दुःखी रहते हैं। इनका व सभी प्राणियोंका सुख दुःख इष्ट अनिष्ट कल्पनाके आधारपर होता है सो वहाँ भी सुख आत्मासे ही उद्भूत है।

देवोंका संक्षिप्त परिचय—देवोंमें भी जातियाँ अनेक हैं। संक्षेपरूपसे चार विभागमें कहा है—१. भवनवासी, २. व्यन्तर, ३. ज्योतिष, ४. वैमानिक। इन चारोंमें आदिके दो निकाय अर्थात् भवनवासी और व्यन्तर तो इस रत्नप्रभा नामक पहिली पृथ्वीके भीतर पहिले २ खंडोंमें (खरभाग, पंकभागमें) जन्म लेते हैं और ज्योतिषी इस मध्यलोकमें ही यहाँसे ७९० योजन ऊपर तथा इतने ही करीब यथासंभव ऊपर रहते हैं। इन देवोंमें सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वमें मरण कर उत्पन्न नहीं होता है। इनमें तृष्णा-ईर्ष्याका अधिक दुःख है। वैमानिक देवोंमें भी १६ स्वर्गमें तो इन्द्रकी व्यवस्था है, ऊपर तक ग्रैवेयक यद्यपि अहमिन्द्र हैं तथापि सम्यग्दृष्टि होनेका नियम नहीं। यहाँ तकके देव मिथ्या आशयवश घोर कर्मबंध करते रह सकते हैं। नव अनुदिश व पाँच अनुत्तर इन १४ विमानोंमें सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, सो इनके संयम नहीं होता है जिसको कि ये अन्तरंगसे चाहते हैं।

शरीर व विषयोंकी सुखपरिणमनमें अकिञ्चित्करता—देखो भैया! यदि वैक्रियक शरीर सुखका साधन होता तो भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषियोंकी प्रवृत्ति देख लो, हाय हाय मचा कर कितना प्रयत्न करते रहते हैं? वैमानिकोमें भी प्रायः देख लो। वस्तुतः सुख आत्मा का ही है, यदि बाह्य पदार्थसे सुख आता होता तो देव या यहाँके धनी आदि लोग तो महा अंधेर मचा डालते, पर क्या किया जाय, सुख तो ज्ञानका अविनाभावी है। अतः इन लोगोंका वश नहीं चलता। सुखपर तो अधिकार ज्ञानी जीवोंका ही है। तथा मुक्त आत्मावोंके जो अनन्त अतीन्द्रिय सुख है वहां तो आत्मा ही कारण है यह विशेषरूपसे स्पष्ट ही है, परन्तु कर्मसे आवृत्त संसारी मोही जीवोंका भी जो सुखाभास प्रकट है, उसमें भी उनका आत्मा ही उपादान कारण है अर्थात् वे आत्मा ही स्वयं परिणमकर सुखरूप अथवा दुःखरूप होते हैं।

Version 1

इसलिये बंधुवो ! अपनी किसी भी परिणतिको किसी बाह्य अर्थसे उत्पन्न हुआ मत देखो ।

प्रश्न—शरीर तो आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें है, सो अलगसे यह मालूम नहीं होता कि शरीर सुखका कारण है, परन्तु भोजनादि बाह्य सामग्रियोंसे सुख हो रहा है, यह तो प्रकट सबको विदित है सो देह सुखका कारण नहीं घटित होता है तो मत होओ विषयोंको तो सुख देनेका अधिकार मानना चाहिये । उत्तर—प्रथम तो स्वरूप सत्को पहिचान करके देखो—आत्मा पृथक् सत् है, शरीर पृथक् है । अतः आत्माके परिणमनको शरीर नहीं करता, और भोजनादिक तो प्रकट अत्यन्त पृथक् पदार्थ हैं उनका भी सुखदानमें अधिकार नहीं हैं । शरीर की तरह विषय भी अकिञ्चित्कर हैं । विषयोंकी अकिञ्चित्करता तो बिल्कुल ही सुगम है । इसी भावका प्रकाश करनेके लिये श्री भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य गाथासूत्र कहते हैं—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं ।
तध सोक्खं सयमादा विसया कि तत्थ कुव्वंति ।।६७।।

आनन्दस्वभावी आत्माके आनन्दपरिणमनमें अन्यकी अकिञ्चित्करता—जैसे नक्तंचर जीवोंकी दृष्टि स्वयं तिमिरहरा है तब उन जीवोंको देखनेके लिए प्रदीपप्रकाशादिकी आवश्यकता नहीं है, वहां प्रदीप अकिञ्चित्कर ही है उसी प्रकार यह आत्मा विषयरहित अमूर्त समस्त प्रदेशोंमें आह्लाद उत्पन्न करने वाले सहज आनन्दमय स्वभाव वाला है । उस आनन्दके विकासके लिये विषय अकिञ्चित्कर हैं । विषय पदार्थ तो मात्र स्वयं खुदका परिणमन करता है । मुक्ति होनेपर भी आत्मा स्वयं सुखरूपसे परिणमता है और यहाँ संसार अवस्थामें रहने वाले जीव भी स्वयं सुखरूपसे परिणमते हैं । यह तो मात्र अज्ञानी जीवोंकी कल्पनामात्र है है कि विषय सुखके साधन हैं । विषयभूत पदार्थ तो आत्माके लिये अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ हैं उन्हें अपने गुणोंमें परिणमते रहनेके कार्य सतत हैं ।

प्रश्न—दृष्टान्तमें नक्तंचरका दृष्टान्त दिया, सो नक्तंचरको तो आवश्यकता नहीं प्रदीप प्रकाशकी, यह तो ठीक है, परन्तु मनुष्य आदिको तो आवश्यकता है ही । इसी तरह मुक्त जीवोंको सुखके लिये विषय पदार्थकी आवश्यकता नहीं यह तो ठीक है, परन्तु संसारी जीवोंको तो सुखके लिये विषय पदार्थकी आवश्यकता तो रहेगी ही, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि विषय अकिञ्चित्कर हैं । उत्तर–मनुष्य आदिको देखनेमें प्रकाश कुछ परिणमन नहीं करता, वहां तो देखने जाननेका परिणमन आत्मा ही करता है । इसी तरह सुखस्वभावकी किसी परिणतिसे परिणमते हुए आत्माके सुखमें विषय कुछ भी नहीं करते हैं, वहाँ भी आतमा ही अपने सुख गुणके परिणमनसे परिणमता रहता है ।

आनन्दगुणके सभी परिणमनोंमें परका अग्रहण—द्रव्यके सत्स्वरूपपर दृष्टि देकर

http://www.jainkosh.org

यह सब निर्णय करो। निमित्त अपनी परिणति उपादानमें नहीं देता। सुखगुणके स्वभाव परिणमनके लिये तो निमित्त भी कोई नहीं होता, वह तो स्वभावपरिणति अनैमित्तिक परिणति है, परन्तु सुखगुणके विकृत परिणमनरूप वैषयिक सुख यद्यपि निमित्तकी उपस्थिति बिना प्रकट नहीं होते तथापि इस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको इतना ही समझना कि उपादानभूत यह आत्मा अपने सुखगुणके विभावपरिणमनको विषयभूत पदार्थकी कल्पना करके कर पाता है अर्थात् निमित्तको पाकर उपादान स्वयं अपनी प्रभुतासे प्रभावको उत्पन्न करता है। संसार अवस्थामें भी यह जीव शरीरके कारण सुखी नहीं है, किन्तु आनन्द गुणका परिणमन ज्ञानके अविरोधसे होता है। जब सशरीर अवस्थामें भी जीव स्वयंके परिणमनसे सुखी है तब मुक्त जीवोंके अतीन्द्रियसुखमें संदेहका स्थान ही कहाँ ?

आत्माके स्वकार्यमें अन्यकी अप्रयोजकता—भैया! वास्तवमें तो बात यह है कि शरीर आनन्दका कारण नहीं, प्रत्युत आनन्दका बाधक ही है निमित्तदृष्टिसे। निश्चयतः शरीर आत्माके किसी गुणका या किसी पर्यायका न साधक है, न बाधक है। प्रत्येक पदार्थ अपने ही गुणका स्वामी है, अपने ही पर्यायका अधिकारी है। यहां दृष्टान्त लौकिक है—सिंह, सर्प, बिडाल, श्वान आदिकी दृष्टि अन्धकारको हरने वाली है, तो उन्हें दीपसे कोई प्रयोजन नहीं है। वस्तुतः अन्धकार पर्याय उसी पुद्गलकी है, जहाँ अंधकारका परिणमन है, और अन्धकार का व्यय होनेके समय प्रकाश भी उस ही पुद्गलकी पर्याय है, जहाँ प्रकाशका परिणमन है; किसी वस्तुके अन्धकार पर्यायको नक्तंचरकी चक्षु नहीं हर सकती है। यहाँ दृष्टान्तका प्रयोजन यह है कि नक्तंचरके नेत्र ऐसी शक्ति रखते हैं कि बिना प्रदीप आदिके निमित्त पाये भी देख सकते हैं।

सहजानन्दपरिणमन—आत्मा सुखस्वरूप है, सो बाधक भावके अभाव होते ही आत्मा सत्य पूर्ण सुखरूप परिणमता है। संसार अवस्थामें अथवा विकार अवस्थामें भी जो सुख होता है, वह भी सुखशक्तिके परिणमनसे होता है। स्वयंके चतुष्टयसे परिणमते हुए आत्माकी परिणतिमें विषय क्या करेंगे? भैया! आप सुखी भी अपने आप होते, और जब दुःखी होते हो तो दुःखी भी अपने आप होते हो। इसलिये परपदार्थकी अकिञ्चित्करता जान परदृष्टिको छोड़ो अर्थात् विश्रामसे स्थित हो जावो। यहीं अद्वैतदृष्टि होती है, जिस अद्वैतदृष्टिके प्रसादकी दृष्टिसे भी अतीत दर्शन, ज्ञानका सहजपरिणमन हो जावेगा। श्रीदेवके उपदेशका तात्पर्य यह है कि जैसे सुखका कारण देह नहीं है, वैसे सुखका कारण विषय भी नहीं हैं। यह आत्मा निश्चयसे निर्विषय सुखस्वभाव वाला है, अमूर्तिक समस्त प्रदेशोंमें एक परिणतिसे आह्लाद उत्पन्न करने वाला है। आत्माका आनन्द सहज ही है, सो सुखके लिये (आनन्दके लिये) अन्यपर उपयोग न हो। इतरके सुखप्रदत्वकी श्रद्धामें आकुल ही रहोगे, अतः निश्चयनयके

version

विषयभूत अद्वैत निजको देखो।

केवल अवस्थामें तीन विशेषतायें—केवल अवस्थामें अर्थात् जब यह आत्मा मात्र स्वयं रह जाता है, इसमें किसी परपदार्थका लेप नहीं रहता, और न परभावोंका संग रहता है, उस स्थितिमें तीन खास बातें उत्पन्न होती हैं। एक तो यह ज्ञान समस्त अर्थोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है अर्थात् समस्त लोकालोकव्यापी ज्ञान बन जाता है। दूसरी बात, जितने भी अनिष्ट हैं, वे सब अनिष्ट नष्ट हो जाते हैं। तीसरी बात जो इष्ट है, वह प्राप्त हो जाता है। तो जहाँ सर्वव्यापी ज्ञान हो गया, कुछ अज्ञान नहीं है और अनिष्ट खतम हो गये, और स्वरूपसे बढ़कर अभीष्ट है क्या, जो कि आनन्दमय है वह पूर्ण प्राप्त हो गया, फिर वहाँ दुःखका क्या काम ? यह तो है केवली प्रभुकी बात, और अब परोक्ष ज्ञानियोंकी बात देखो।

इन्द्रियसुख विषयवेदनाका प्रतीकार—परापेक्ष ज्ञान और सुखकी प्रवृत्ति वाले प्राणियोंके वास्तविक सुख है ही नहीं। परोक्षज्ञानी जीव तो चाहे वे बड़े देवेन्द्र भी हों, चक्री भी हों तब भी उनके परोक्षज्ञान है, उस स्थितिमें इन्द्रियसे पीड़ित होकर दुःखको नहीं सह सकते, इसलिए वे विषयोंमें रमते हैं, कोई आनन्दपूर्वक विषयोंमें नहीं रमते। आकुलता नहीं सही जाती, सो इन्द्रियजन्य ज्ञानमें रागवश होकर वे विषयोंमें रमते हैं। विषयोंमें रमना भी दुःखका कारण होता है, और विषयोंमें रमकर भी दुःखमें गिरना होता है। जैसे किसीके कानमें दर्द हो गया तो कानके दर्दकी अच्छी पुरानी दवा है बकरेका मूत्र डालना। यह पुराने लोग किया करते थे। तो जब कानकी वेदना नहीं सही जाती है तभी तो ऐसी प्रवृत्ति करनी पड़ती है। जिसके शरीरमें फोड़ा निकल आया, वही तो मलहम पट्टी करेगा। जिसका शरीर नीरोग है, क्या वह मलहम पट्टी करेगा ? ऐसे ही इन ५ प्रकारके इन्द्रियके विषयोंमें वही तो रमेगा, जिसको कोई विशेष वेदना उत्पन्न हुई हो। तो दुःखके कारण ये विषय भोगे जाते हैं, और उनके भोगनेके कारण दुःख मिलता है। इससे यह ध्यानमें लाना चाहिए कि आत्माको जो शुद्ध आनन्द प्राप्त होता है वह देहकी साधनासे प्रकट नहीं होता, किन्तु ज्ञानस्वभावी अन्तःस्तत्त्वके आलम्बनसे प्रकट होता है। ज्ञानी और अज्ञानीकी दुनिया परस्परमें भिन्न और निराली है। अज्ञानीकी दुनिया तो यह विषयप्रसंग है और ज्ञानीकी दुनिया अपना अंतस्तत्त्व ज्ञानस्वभाव है।

शरीर और विषयोंमें सुखसाधनताका अभाव—शरीर सुखका साधन नहीं है। मुक्त जीवोंके शरीर है ही नहीं, किन्तु संसार अवस्थामें भी हम आप सबको विषयोंको पाकर भी जो सुख होता है, वह शरीरके साधनसे नहीं होता, किन्तु अपने ही विचार अपने ही परिणमनसे वह सुख होता है। तो इससे यह निर्णय रखना चाहिए कि सुखका साधन शरीर नहीं है, किन्तु ज्ञानकला है। जैसे देह सुखका साधन नहीं है, इसी प्रकार ये विषयभूत पदार्थ भी सुख

Report any errors at vikashd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

के साधन नहीं हैं। हाँ, परोक्ष ज्ञानियोंको वे विषयभूत पदार्थ निमित्त होते हैं तब वे सुखका अनुभव करते हैं, मगर सुखका साधन विषय नहीं है, सुखका साधन तो ज्ञानकला ही है। अज्ञानी जनोंने भ्रमवश उन विषयोंको सुखका साधन माना है। वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने आपमें अपनी परिणतिसे अपनी ही अपनी पर्यायें बनती हैं। तब हमारे सुखपरिणमन में भी बाह्य पदार्थ अथवा देह ये सब साधन कैसे बन सकते हैं ? आत्मा सुखस्वभावी है, इस बातको अब एक दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं।

सयमेव जधादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धोवि तधा णाणं सुहं च लोगे तधा देवो ॥६८॥

आदित्यके तेजस्वरूपवत् आत्माकी स्वयं ज्ञानस्वरूपता—जैसे आदित्य, सूर्य तेजस्वरूप है, उष्ण है, देव है तो उस सूर्यको तेजस्वरूप क्या आसमानने बना दिया या देखने वालों ने बना दिया या उसमें किसी परवस्तुसे तेज ला लाकर संचित किया ? वह सूर्य स्वयं तेजस्वरूप है, वह तो आकाशमें है, और अन्य कारणोंकी अपेक्षा नहीं रखता, वह स्वयं ही बहुत प्रचुर अपनी किरणोंसे, प्रभावसे देदीप्यमान और उस प्रभापुञ्जके कारण वह सदैव प्रकाशमान है। सूर्य स्वयं तेजस्वरूप है, किसी दूसरेने उसे तेजोमय नहीं बनाया। ऐसे ही लोकमें किसी भी अन्य कारणकी अपेक्षा बिना स्वयं ही भगवान यह आत्मा अपने और परके प्रकाशनमें समर्थ है, ऐसा अमोघ अनन्तशक्तिरूप सहज निज स्वरूपका जो सम्वेदन होता है, उसमें अपना और अपने उपयोगका ज्ञानप्रकाशका तादात्म्य होनेसे यह कहना चाहिए कि यह आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है।

आत्माके ज्ञानस्वभावके विघातका अभाव—जैसे सूर्यमें तेज किसी परपदार्थसे लाकर नहीं डाला गया, इसी प्रकार आत्मामें ज्ञान किसी परपदार्थसे लाकर नहीं डाला गया। सूर्य सदैव प्रकाशशील है। नीचे बादल आ जायें तो क्या बादलोंने उसके तेजमें बिगाड़ कर दिया ? बादल आड़े आनेसे सूर्यका प्रकाश यहाँ नहीं आ सकता, पर सूर्य अपने आपमें मूलमें तो तेजस्वरूप ही है। ऐसे ही कदाचित् संसार अवस्थामें इन विकार भावोंके कारण इसका ज्ञानस्वरूप विकसित नहीं हो पाता, परन्तु स्वभावमें तो निरखो, क्या यह ज्ञानस्वभाव मिट गया ? यह ज्ञानस्वरूप ही है।

ज्ञानस्वरूपमें महत्त्व और आदरकी भावना—जैसे किसी होनहार छोटे बच्चेमें उसकी कलाको निरखकर उसमें किसी महापुरुष होनेकी कल्पना करते हैं और उसे उस दृष्टिसे देखते हैं, और यों देखा जाय तो आज जो बालक हैं, वे देशके कर्णधार बनेंगे, ये ही देशको चलायेंगे, ऐसी शक्तियोंपर दृष्टि देकर बालकोंको देखा जाय तो उनमें आस्था और आदर बुद्धि बढ़ती है। ये ही तो धर्म चलायेंगे। जैसे बड़े बुजुर्ग लोग आजकलके इस धर्मव्यवहारको चला

Version 1

रहे हैं, ये तो निपट जायेंगे, पर उस गाड़ीको चलाने वाले ये ही तो बच्चे हैं। ऐसी जब दृष्टि डालते हैं तो उनमें महत्त्व और आदरकी भावना होती है। ऐसे ही छोटेसे छोटे जीवमें भी वनस्पति हो, निगोद हो, कीड़ा मकोड़ा हो, जब हम उनके स्वरूपपर दृष्टि देते हैं तो वही तो पदार्थ है जो कभी सिद्ध परमात्मा मुक्त जीव बन सकता है। स्वरूप और स्वभाव तो वही है। ऐसा जब हम स्वरूप और स्वभावपर दृष्टि देते हैं तो प्रत्येक जीवोंमें महत्व और आदरकी भावना पहुंचती है। प्रत्येक जीव स्वयं ज्ञानस्वरूप है।

आत्माकी शाश्वत ज्ञानानन्दस्वरूपता—इस प्रकरणमें तो प्रभुकी बात कही जा रही है। वह तो प्रकट ज्ञानस्वरूप है, विकासमें भी ज्ञानरूप है और शक्तिमें भी ज्ञानरूप है। इस प्रकार जैसे ज्ञानरूप रहना आत्माका स्वभाव है यों ही आनन्दरूप रहना भी आत्माका स्वभाव है। आत्मा ज्ञानरूप रहकर भी ज्ञानरूप परिणमता नहीं है, उल्टा परिणमता है, मिथ्याज्ञान-रूप बनता है। तो इससे कहीं ज्ञानस्वरूपका प्रतिषेध न हो जायगा, कुछ कारण है। जैसे कारणसे मूलमें अपने ज्ञानस्वभावको न छोड़कर उपाधिवश किसी सीमा तक उल्टा ज्ञानरूप बन रहा है। इसी प्रकार कोई जीव संसार अवस्थामें सुखरूप, आनन्दरूप न परिणमकर क्लेश रूप परिणम रहे हैं तो क्लेशरूप परिणम जानेसे कहीं आत्मामें आनन्दस्वरूपताका प्रतिषेध न हो जायगा, कुछ कारण है, जो उपाधिवश मूलमें आनन्दशक्तिका परित्याग न करके कुछ सीमा तक इस आनन्दगुणके उल्टे परिणमनसे विकाररूपमें सुख या दुःखरूप अवस्थामें यह परिणम रहा है अर्थात् सांसारिक सुख रूप और क्लेशरूप यह परिणम रहा है, इतने पर भी आत्माके आनन्दरूपताका प्रतिषेध नहीं हो सकता।

आत्माकी स्वतः ज्ञानानन्दमयता—सूर्य जैसे स्वयं ही उष्ण स्वरूप है, लोहा तो कभी-कभी सम्पर्कवश उष्णरूप परिणत होता है किन्तु यह सूर्य तो नित्य ही उष्णरूप परिणत हो रहा है। तो जैसे सूर्य उष्ण है, यह स्वयं अपने आप है। कहीं आगमें से गर्माहट निकाल कर सूर्यमें किसीने डाला हो, ऐसा तो नहीं है। इसी प्रकार भगवान आत्मामें जो ज्ञान है, वह ज्ञानपरिणमन स्वयं स्वभावसे है। कहीं अन्य वस्तुवोंसे ज्ञान निकलकर इसमें दिया हो, ऐसा नहीं है। वह स्वयं ही ज्ञानस्वभावी है, इस प्रकार यह आत्मा स्वयं ही आनन्दस्वभावी है। उल्टा काम न करें, आनन्द तो बना ही बनाया है।

सहज आनन्दलाभ—भैया! आनन्द प्राप्त करनेके लिए न कोई तरकीब सोचना है, न कोई परिश्रम करना है, दुःखके लिए जो तरकीब सोच रहे हैं, दुःखका जो श्रम कर रहे हैं, उस श्रम और तरकीबको छोड़ दें तो आनन्द तो स्वयं ही है। जैसे दर्पणमें कांचमें स्वच्छता के लिए हमें कुछ यत्न नहीं करना है, वह स्वयं स्वच्छ है, पर उसपर जो विकार आया, धूल आयी, तेलका दाग लग गया या कभी जानबूझकर कुछ किया हो, उसको खतम करना है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दर्पण तो स्वच्छ है ही, उसका उद्यम नहीं करना है, इसी प्रकार आत्मामें आनंदका कुछ उद्यम नहीं करना है, किन्तु जितना हम उल्टा चल चुके हैं अथवा चल रहे हैं, उस उल्टेपनको मिटाना है। बस श्रम भी अगर समझिये तो इस उल्टेपनको मिटानेका समझिये, आनन्द पानेका श्रम न समझिये।

श्रमको दूर करनेका श्रम—कोई भूल हो जाती है, तो वह भूल न रहे, सही उसी स्थानपर आ जाय जिस स्थानसे बाहर आनेपर भूलमें आ गए थे, उस स्थानपर लौटनेके लिए श्रम पड़ता है, वह भूल मिटानेका श्रम है, ऐसे ही आत्माको जो भी कठिनाई पड़ती है—ध्यानमें, ज्ञानमें मन नहीं लगता, कुछ जान-बूझकर ज्ञानमें उपयोग लगाना है, ध्यानमें मन लगाना है। तो ऐसा जो कुछ भी हम जान-बूझकर करते हैं, वह हम भूलको मिटानेके लिए, उल्टे रास्तेका परिहार करनेके लिए करते हैं। जैसे व्यवहारधर्म करते हैं, तपश्चरण, पूजन, दर्शन, तो ये प्रवृत्तियाँ हमें सीधे धर्ममें नहीं लगाती हैं, किन्तु हम जो अधर्ममें लगे हुए थे, उन उपयोगोंको उन प्रवृत्तियोंको बदलनेमें ये व्यवहारधर्मके काम कर रहे हैं। धर्ममें लगनेका हमें क्या श्रम करना, हम तो स्वयं धर्मस्वरूप हैं, हम आप सभी और प्रत्येक पदार्थ शाश्वत निज धर्मस्वरूप है। पुद्गलमें जो स्वभाव है, वह पुद्गलका धर्म है। आत्मामें जो स्वभाव है, वह आत्माका धर्म है। तो धर्मस्वरूपमें आत्मामें हमें धर्म क्या ज्यादा लगाना है, वह तो है ही, पर उस धर्मको भूले हैं और अधर्ममें हमारी प्रवृत्ति बढ़ गई है, तो उस अधर्मकी उल्टी प्रवृत्तियोंसे दूर होनेके लिए यह श्रम करना पड़ता है। आत्मा तो स्वयं आनंदस्वभावी है, धर्मस्वरूप है।

आत्मामें स्वयं दिव्यरूपता—आदित्यको देव कहते हैं। उस पर्यायमें देवगति नामकर्मके उदयके कारण ऐसी ही स्वाभाविक बात है कि वह देव हो गया। उसे देव हमने आपने बनाया क्या? क्या माननने वालोंने बनाया? भले ही माननने वालोंने उसे देव माना, लेकिन उसके देव होते हुएमें जो कुछ बातें हैं, वे तो उसको उसके ही कारण हैं। माननेसे देव बनने की बात तो एक पहुंचे हुए भक्तको अलंकारिक स्तुति है। जैसे कहा जाता है कि हे प्रभो! आपको भगवान भक्तोंने ही तो बनाया है। भक्त न होते, पूजने मानने वाले न होते तो भगवान क्या? ठीक है, यह भगवान है, इस तरहका जो व्यवहार है, यह भक्तोंके द्वारा प्रकट हुआ है। लेकिन प्रकट हुआ तो क्या, भक्त न मानें तो क्या? प्रभुका जो स्वरूप है, शुद्ध ज्ञानानन्दमय रहना, यह क्या भक्तोंने बना दिया? यह तो प्रभुमें अपने आप है।

वस्तुतः भगवान आत्माका स्वयं ज्ञानानन्दरूप उत्कृष्टता—एक जगह तो स्तवन करते हुए भक्तने यहाँ तक कह डाला कि कितने ही लोग ऐसा कहा करते हैं कि भगवान भक्तोंको तारते हैं, तारनेके मायने ऊँचा उठाना, पर हमें तो ऐसा लगता है कि भक्त भगवानको तार

Version 1

रहे हैं। भगवानको ऊँचा कौन उठा रहा है? भक्त न होते तो पड़े रहते भगवान एक कोनेमें, उनको लोकमें मानने वाला कौन होगा? देखिये—जब निकट परिचय हो जाता है तो ऐसी अनेक खुले दिलसे बातें होती हैं। शायद कोई इस बातपर कुछ गौर न करे तो दृष्टांत लीजिए। किसी नदीको तैरनेके लिए एक मसक या मटकियाका प्रयोग किया जाता है, पानीमें उसको औंधाकर लोग नदी तैर जाते हैं, तो उस प्रसंगमें यह बतावो कि मसकने आदमीको तैराया या आदमीने उस मसकको तैराया? इसके दोनों ही उत्तर हो सकते हैं। यों ही मान लो कि भगवानने भक्तोंको तार दिया और भक्तोंने भगवानको तार दिया। एक यह बहुत ऊँची प्रेम-भरी स्तुति है। भगवानको भक्त क्या तारेंगे, वे तो अपने स्वरूपसे तिर गए। तो लोकव्यवहार में अलंकारिक भाषासे कुछ भी कह दिया जाय, पर भगवान आत्माका जो उत्कृष्ट स्वरूप है, तेजरूप है, वह तेजस्वरूप, ज्ञानस्वरूप स्वयं हो गया। आत्मा सुखस्वभावी है, सो सूर्यमें उष्णता के स्वभावकी तरह इस आत्मामें भी सुखका स्वभाव मौजूद है, किसी साधनसे, देहसे, विषयों से, किसीसे सुख नहीं मिलता, किन्तु आत्मा स्वयं आनंदस्वरूप है। सो अपने ही इस आनन्द-स्वभावसे आनन्द प्रकट होता है।

भगवान आत्माके दिव्यस्वरूपमें आस्था—यह भगवान आत्मा स्वयं दिव्यस्वरूप है। निकट जो आत्मतत्त्व है, उसकी प्राप्ति होनेसे अपने शिलास्तम्भपर उकेरा गया जो दिव्यस्वरूप है, जैसे उस स्वरूपमें यहाँ हम आप दिव्यस्वरूपका अनुभवन करते हैं। ऐसे ही वह परमात्मा प्रभु अपने सर्वाङ्गमें एक दिव्य चैतन्यस्वरूप होनेसे निरन्तर उस ज्ञानचेतनाका ही अनुभव होते रहनेसे वह स्वयं देवस्वरूप है। दिव्यतासे मतलब ज्ञान और आनन्द दोनोंका प्रतिनिधित्व करने वाले चैतन्यस्वभावसे है। आत्मा चिन्मात्र है, और यह चिद्‌ज्योति एक दिव्यज्योति है, जो केवल शुद्ध चिन्मात्रका अनुभवन करता है। इस प्रकार यह निश्चय करना कि आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप स्वयं है, कहीं इन्द्रियके कारण अथवा विषयोंके कारण अथवा देहके कारण आनन्द नहीं है। केवलज्ञानमें आनन्दस्वभाव पूर्ण विकसित हुआ ही है, इतना भी भेद न डालें, किन्तु वह ज्ञान स्वयं आनन्दस्वरूप ही है—ऐसा निर्णय करना और अपने इन्द्रिय-ज्ञान, इन्द्रियसुखपर विश्वास न करना, ये सब इसके स्वरूपसे भ्रष्ट करके किसी ओर बहकाने के साधन हैं। हम इनसे पृथक् होकर ज्ञान और आनंदस्वरूप अपनेको अनुभव करें, ऐसी अन्तः प्रेरणा होनी चाहिए।

आनन्द-प्राप्तिके उपायमें इन्द्रिय-सुख-साधनस्वरूपका उपन्यसन—कल आनन्द प्रपञ्चकी समाप्ति हुई थी। ग्रन्थके वर्णनमें समाप्ति हुई थी। कहीं अपनेमें समाप्ति न समझ लेना। यह बात अनुभवसिद्ध हो गई थी कि यह आत्मा स्वयं ज्ञान है, स्वयं सुख है, स्वयं देव है। इसलिये इस भगवान आत्माको सुखके झूठे साधनोंसे कोई प्रयोजन नहीं है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सच्चा साधन स्वयं ही है। इस प्रकार आनन्दप्रपञ्चका वर्णन करके पुनरपि सत्य आनन्दके बाधक इन्द्रियसुखके स्वरूपके विचारको करनेसे पहिले इन्द्रियसुखके साधनके स्वरूपका उपन्यास करते हैं, वर्णन करते हैं। उपन्यास शब्द उप और नि उपसर्गपूर्वक असु क्षेपणे दिवादिगणीय असु धातुसे बना है, जिसका अर्थ है—पासमें सब प्रकारसे फेंक देना। पासकी चीज अत्यन्ताभाव वाली होती है, जो तादात्म्य रखे, वह पास नहीं, किन्तु वह वही है। यहां इन्द्रियके सर्वस्वको भले प्रकार पूर्णरूपसे फेंक देनेका प्रोग्राम है। सो जिसे फेंकना है, उसके साधनोंका विचार करते हैं। शत्रुके विजयके लिये शत्रुके सहायक, साधन आदिका परिज्ञान करना आवश्यक हो जाता है, जिससे विजयके अनुरूप प्रोग्रामका प्रारम्भ होता है।

यहाँ इन्द्रियसुखके साधनोंके स्वरूपपर विचार चल रहा है—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उपवासादिसु रत्तो सुहोव ओगप्पगो अप्पा ॥६६॥

इन्द्रियसुखका साधनभूत शुभोपयोग— अरहंत सिद्ध देव, आत्मसाधनामें प्रकर्ष सिद्ध यति, दीक्षा शिक्षादायक गुरुजनोंकी पूजामें, दानमें, शीलव्रत पालनमें उपवास आदिमें जो धर्मानुराग करने वाला आत्मा है, वह शुभोपयोगात्मक है। प्रश्न—यहाँ इन्द्रियसुखके साधनों पर विचार चल रहा है, तब साधनकी बात न कहकर साधकको क्यों बताया गया? उत्तर—निश्चयसे साधक व साधन भिन्न नहीं होते। यहाँ शुभोपयोगात्मक आत्माको ही तो कहा गया है, आत्माको केवलको तो नहीं कहा गया। जिस कालमें आत्मा शुभोपयोगसे परिणमता है, उस कालमें वह समस्त आत्मा शुभोपयोगमय है। अतः भेदविवक्षासे शुभोपयोग साधन हुआ और शुभोपयोगात्मक आत्मा साधक हुआ, परन्तु अभेदविवक्षासे शुभोपयोगात्मक आत्मा ही साधक हुआ और यही साधन हुआ। अभेदनयसे कहनेपर यही साध्य हुआ। भेदनयसे इन्द्रियसुख साध्य है तो शुभोपयोग साधन है। शुभोपयोगसे तो तत्काल मानसिक सुख साध्य होता है, और निमित्तोपनिमित्तकी दृष्टिसे देखें तो शुभोपयोगके निमित्तसे पुण्यकर्मका बंध हुआ, और फिर इस पुण्यकर्मके उदयसे इन्द्रियसुख मिलता। निमित्तोपनिमित्तकी दृष्टिसे शुभोपयोग भावी अन्य कालमें फल गया, इस कारण इन्द्रियसुखका साधन शुभोपयोग कहा गया है।

इन्द्रियसुखमें अपेक्षा व व्यग्रता—देखो भैया! असत्यार्थकी सिद्धिके लिये कितनी वकालतकी जरूरत हो गई है तथा परिश्रम, अपेक्षा, व्यग्रता भी तो देख लो, हाय! बड़ा कष्ट है। स्वरूपसे चिगे और क्लेश ही क्लेश है। समस्त विपदावोंकी भूल अपनी भूल है। लोग सुख, शांतिके लिये कितना बाह्य व्यर्थका परिश्रम करते हैं? शांतिकी कुञ्जी तो अति सुगम है, कठिनतासे मिलने वाली तो अशांति ही है। यहाँ इन्द्रियसुखके साधन बताये जा रहे हैं। सो इसमें स्वयं ही यह परीक्षा कर लेना कि परावलम्बनता कितनी है और इसमें

Version

तत्काल व इसके भावी उदयमें व्यग्रता कितनी है ?

इन्द्रियसुखके साधन—इन्द्रियसुखका निमित्त पुण्यकर्मका उदय है व पुण्यविपाकका नोकर्म बाह्य सामग्री है। पुण्यका उदय पुण्यकी सत्ता बिना नहीं होता, पुण्यकी सत्ता बंध बिना नहीं होती। पुण्यके बंधका निमित्त शुभोपयोग है, शुभोपयोगका निमित्त कषायका मंदोदय है व नोकर्म देवता, यती, गुरु, दुःखी, मुमुक्षु, तत्त्वजिज्ञासु, शुभक्रियायें आदि हैं। जब यह आत्मा अशुभोपयोगकी भूमिकाको उल्लंघन करके देवपूजा, यतीपूजा, गुरुपूजा, वैयावृत्य, प्रायश्चित, दीक्षाग्रहण, व्रतपालन, धर्मोपदेश, करुणा आदिके आश्रय धर्मके अनुरागको अङ्गीकार करता है, तब यह आत्मा शुभोपयोगकी द्वितीय भूमिकापर चढ़ गया समझ लीजिये।

वेदनाके प्रतीकारमें शुभोपयोग व अशुभोपयोग—शुभोपयोग वेदनाका वेदनारूप प्रतीकार है, और अशुभोपयोग भी वेदनाका वेदनारूप प्रतीकार है। अशुभोपयोगका फल तो बुरा है ही, परन्तु अशुभोपयोगके फलके समय भी ज्ञानी जीव अपना शांतिमार्ग पा लेते हैं। शुभोपयोगका फल यद्यपि संपदा वगैरा इष्टसमागम, इन्द्रियसुख, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि हैं तथापि अज्ञानी जीव इनके अहंकारके वेगमें बहकर अशान्तिमय दुर्गमन पा लेते हैं। वस्तुतः बतावो शुभोपयोग व अशुभोपयोग तथा इन दोनोंके फलोंमें किसको अच्छा कहा जावे ? बड़े ढचरेके व्यवहारधर्मियों द्वारा शुभोपयोगका इतना माहात्म्य फैला दिया गया है, तो इसमें यह कारण हुआ कि "शुद्धोपयोगसे पहिले शुभोपयोगका होना हुआ करता है तथा शुभोपयोगके मार्गसे गुजरकर शुद्धोपयोगका मार्ग मिलता है" इस रहस्यसे तो अपरिचित थे और ज्ञानियोंके मन, वचन, कायकी चेष्टाको ही पकड़ लिया। अशुभोपयोग और शुभोपयोग दोनोंको ही क्लेश रूप और क्लेशका साधन कहा गया है। अन्तर इतना है कि अशुभोपयोग तो तीव्र क्लेशरूप है और शुभोपयोग मंद क्लेशरूप है। अशुभोपयोग २ प्रकारसे होता है—१. द्वेषरूप, २. इंद्रियविषयोंके अनुरागरूप। द्वेष जितना भी है, वह सब अशुभोपयोग है, परन्तु रागमें इन्द्रियविषय व नामवरीकी चाह आदि मानसिक विषयका अनुराग यह सब अशुभोपयोग है, और परमेष्ठियोंकी पूजा, वैयावृत्य, दान, सदाचार आदि सब शुभोपयोग हैं।

शुभोपयोग व अशुभोपयोगसे शुद्धोपयोगकी विलक्षणता—अशुभोपयोगका फल महा दुःख है, शुभोपयोगका फल इन्द्रियसुखरूप दुःख है, परन्तु अशुभ व शुभ दोनों उपयोगोंसे परे शुद्धोपयोगका फल शाश्वत सहज आनन्द है। अशुभ व शुभ दोनों उपयोग विकार हैं, शुद्धोपयोग धर्म है, अविकार तत्त्व है। विकारके व्ययसे अविकार भावकी उत्पत्ति है अथवा विकार भावका व्यय ही अविकार भावका उत्पाद है। विकारसे अधिकार प्रकट नहीं होता तथा अविकारी पूर्व पर्यायसे भी अविकारी उत्तरपर्याय का उत्पाद नहीं होता है। पूर्व अविकारी पर्यायके व्ययसे उत्तर अविकारी पर्याय का उत्पाद होता है अथवा पूर्व अविकारी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पर्यायका व्यय उत्तर अविकारी पर्यायका उत्पाद है। इससे सिद्ध है कि शुभोपयोगसे अथवा शुभोपयोग करते-करते शुद्धोपयोगपर्यायका उत्पाद नहीं होता है। अतएव ज्ञानीकी दृष्टि शुभोपयोग करनेकी नहीं होती है, फिर भी शुभोपयोग हो जाता है जब तक रागप्रकृतिका विशेषोदय अथवा उदीरणा चलती है। शुभोपयोग ज्ञानीका बाह्य चिह्न है, किन्तु जिस प्राणी ने स्वलक्ष्य नहीं कर पाया, उसके भक्ति आदि भी वस्तुतः शुभोपयोग नहीं है। शुभ उपयोग वास्तवमें वही है, जिसका विषय शुद्ध बने, किन्तु जिसका विषय अशुद्ध तत्त्व बने, वह अशुभ उपयोग है। सम्यग्ज्ञानके बलसे जिसने परमपारिणामिक भावरूप ध्रुव अहेतुक अनाद्यनन्त अखंड निज चैतन्यस्वभावको अनुभवा है वे अन्तरात्मा रागोदयको निमित्त पाकर जब प्रवृत्ति में आते हैं तो उनकी प्रवृत्ति परमेष्ठी प्रभुकी पूजा, दान, दया, उपवास व्रताचरणरूप होती है, यही शुभोपयोग है। यह भी शुभका उपयोग नहीं है, किन्तु उपयोग शुभ है। सर्व विशुद्ध अविकारी भावका उपयोग शुभ है, इसके अतिरिक्त सर्व भेद पर्यायोंका ही लक्ष्य रह जाना अशुभ है।

अशुभोपयोग और शुभोपयोगका फल—अशुभोपयोगके प्रसादसे नरक, कुमानुष, तिर्यंचके दुःखोंकी भेंट होती है तो शुभोपयोगके प्रसादसे तृष्णाके साधनोंकी प्राप्ति होती है। यद्यपि पुण्यके उदयसे इन्द्रियसुख प्राप्त हों तो भी इन्द्रियसुखके बड़ेसे बड़े अधिकारी चक्री, इन्द्र को भी देख लो, उन्हें भी सत्य सुख प्राप्त नहीं है, प्रत्युत क्लेश ही है अन्यथा वे इष्टविषयोंमें हापड़-धूपड़ क्यों मचाते ? देख लिया ना शुभोपयोगका प्रसाद ! अहो मंदसे भी मंद राग संसार का मूल बनाये रख सकनेमें मूल जड़ हो जाती, स्वाभाविक सुखके दहन करनेमें चिनगारीका काम करती। अस्तु, शुभोपयोग आता है और इसके फलमें इन्द्रियसुख भी प्राप्त होता है तथापि ज्ञानी जीव शुभोपयोगके कालमें भी सावधानी रखने वाला होता है और फलके कालमें भी। शुभोपयोगकी जबरदस्ती और इसके फलको खूब तांकित कर लो।

अब शुभोपयोग द्वारा साध्य जो इन्द्रियसुख है, उसका आख्यान कल करेंगे।

नोटः—(गाथा नं० ७० का प्रवचननोट प्राप्त न हो सकनेका खेद है।)

इन्द्रियसुखका दुःखपनेमें क्षेपणका संकल्प—इन्द्रियसुखके साधन और स्वरूपका कल विचार चला था और यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया था कि शुभोपयोगका सामर्थ्य इन्द्रियसुख प्राप्त करानेमें विशेष अधिक है। जीव शुभोपयोगके प्रसादसे तिर्यञ्च, मनुष्य व देव—इनमेंसे किसी भी गतिको प्राप्त होकर जितने काल शुभोपयोगके निमित्तसे बांधे गये कर्मोंका उदय चलता है, वे नाना प्रकारके इन्द्रियसुख प्राप्त करते हैं। इन्द्रियसुख व शुभोपयोगका वर्णन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

करके अब आचार्यदेव इन्द्रियसुखको फेंककर दुःखकी टोकरीमें डालते हैं।

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥७१॥

इन्द्रियसुखका दुःखपनेमें क्षेपण—इन्द्रियसुख जिन्हें प्राप्त होते हैं, वे तिर्यञ्च, मनुष्य या देव हो सकते हैं, उनमें भी तिर्यंच अल्प इन्द्रियसुख वाले हो पाते हैं। उनसे अधिक इंद्रिय सुख मनुष्योंके पाया जाता है, और मनुष्योंसे भी अधिक इन्द्रियसुख देवोंमें पाया जाता है। इन्द्रियसुखके अधिकारियोंमें सबसे प्रधान देव हैं। इन्द्रियसुख होनेपर भी इनकी आयु सागरों पर्यन्त होती है, सो चिरकाल तक इन्द्रियसुख भोगते हैं। यह सब शुभोपयोगका प्रसाद है।

देवोंकी आयु जितने सागरकी होती है, उतने पखवाड़े तक तो श्वासोच्छ्वासका कष्ट नहीं पाते, और उतने हजार वर्ष बाद भूख लगती है, बीचमें भूखकी वेदना भी नहीं होती। भूख लगनेपर स्वतः ही उनके कंठसे अमृत झर जाता है और उनकी क्षुधा शांत हो जाती है। उनका शरीर धातु उपधातुरहित, वातपित्तकफरहित, नीरोग, युवा सर्वबाधारहित होता है।

इनके देवाङ्गनायें सैकड़ों हजारोंकी तादातमें होती हैं। देखो भैया! देवोंके मनमाना तो इन्द्रियसुख है और उस सुखमें बाधा देने वाला भी रोग, भूख आदि कुछ नहीं है। कमाने धमानेका तो प्रश्न ही नहीं है। शृङ्गार शौक आदिके लिये वहाँ विविध कल्पवृक्ष हैं। इच्छा होते ही अनेक भोगोपभोगसामग्री प्राप्त हो जाती है। यह सब शुभोपयोग के निमित्तसे बंधे हुए पुण्यकर्मके उदयके निमित्तसे बिना श्रमके ही हो जाता है। इनकी देवियों का यदि मरण हो जाय तो यथाशीघ्र दूसरी देवी उत्पन्न हो जाती है और सेकिन्डोंमें ही युवती हो जाती है। देखो ना! ठाट-बाट देवोंका मनमाना इन्द्रियसुख है। भैया! इस समय पहिले भोगे हुए ठाट-बाटोंको आप भूल रहे हैं। अच्छा है, भूल जाना ही श्रेयकर है। यदि इस भवके भोगोंकी चिन्तना न रखो। अस्तु! उक्त सारे सुख देवोंको प्राप्त हैं, परन्तु भैया! उनके भी वास्तवमें सच्चा स्वाभाविक सुख नहीं है।

पुण्यप्रशंसासे पापपुण्यपरिहारी शुद्धभावकी महिमाका प्रकाश—वीतराग महर्षियोंने कदाचित् शुभोपयोगका और उसके माहात्म्यका वर्णन किया हो तो विवेकियोंको वहीं तक सुनकर नहीं रह जाना चाहिये, वहाँ तक आचार्योंका भाषण पूरा नहीं हुआ है, आगे सुनना चाहिये। तब उनकी शुभोपयोगकी प्रशंसा करने व पुण्यकी प्रशंसा करनेका यथार्थ मतलब समझमें आ जायगा। उनका प्रयोजन यही है कि इतना बड़ा ठाट पाकर भी जीवका उसमें व उसके भोगमें लेश भी हित नहीं है। लोग शुभोपयोगको ललचाकर न रह जायें, अपने जीवन का संभावित साफल्य न खो बैठें। इसलिये शुभोपयोगकी महत्ता बताकर उससे भी अनंतगुणी महत्ता और वास्तविकता जिसकी है उसका वर्णन करते हैं।

भैया! एक चतुर वकील था। उसने एक मुवक्किलका मुकदमा ले लिया। उसकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बहसमें वह वकील अपने खिलाफ ही बोलता गया। बीचमें आधा घण्टा रैस्टकी छुट्टी हुई, तब मुवक्किल बोला कि वकील साहब अब तो हमारी हार ही होगी। आपने तो अपने खिलाफ ही सारी बहस कर डाली। वकील कहता है—घबड़ाओ नहीं, सब ठीक हो जायेगा। रैस्टके बाद फिर बहस शुरू हुई तो वकील कहता है कि अब तक तो हमने वे सब दलील दी हैं, जिन्हें हमारा विरुद्ध मुवक्किल या वकील कह सकता था। अब उन दलीलोंका खंडन सुनिये, पूर्वकी सब दलीलें थोथी और निराधार हैं। यह कहकर वकीलने सबका खंडन करके अपनी विजय प्राप्त कर ली। हमारे आराध्य गुरुदेव भी इसी शैलीसे शुभोपयोग व इन्द्रियसुखका वर्णन कर गये। अब उस वर्णनके पश्चात् कह रहे हैं कि वह सब तो पर्यायमूढ़ बहिरात्माओंके द्वारा मूर्खतावश माना हुआ सुख था, वास्तवमें तो इन्द्रियसुखके नाटक करने वाले पात्रोंमें से मुख्य पात्र देव भी महादुःखी हैं। देवोंके भी स्वाभाविक सुख नहीं है, प्रत्युत अज्ञानकी इस परि-स्थितिमें उनको दुःख होना स्वाभाविक बन गया है, क्योंकि यदि देव दुःखी न होते तो कल्पित मनोज्ञविषयोंमें क्यों गिरते? देवियोंको मनाना, मनमें नाना कल्पनायें करना, लोकमें यथा-शक्ति चारों ओर दौड़धूप करना, महादेवोंकी विभूति देखकर मनमें संक्लेश ईर्ष्या करना, उनकी आज्ञामें रहनेका कष्ट भोगना, सुन्दर सुन्दर आवासोंमें क्रीड़ाके लिये हापटा मारना, छोटे देवोंको आज्ञा देकर अहङ्कार, कर्तृत्वके घोर अन्धकारमें बरबाद होना—ये सब क्या दुःख नहीं हैं? दृष्टि जमाकर देखो तो कभी यह कह बैठोगे कि अरे, ये नारकियोंसे भी अधिक दुःखी हैं।

देवोंका भी विषयविपदामें अभिपात—भैया! वास्तविकतासे देखो तो अज्ञानी देव दुःखी हैं और ज्ञानी नारकी सुखी हैं। सुखपर्याय सुखगुणसे व्यक्त होती है। किसी द्रव्यके गुण की पर्यायको अन्य अनन्तानंत द्रव्य मिलकर भी नहीं कर सकते हैं। यही वस्तुकी प्राकृतिकता है, सही मार्ग है। आत्माके अभेद स्वभावका स्पर्श ही आनंदका कारण है, अन्य सब धोखा है। यथार्थ निर्विकल्प आनंद तो अनादि अनंत अहेतुक अखंड निर्विकल्प ध्रुव निज स्वभावको उपादान (ग्रहण) करके प्रकट होता है। जिस दृष्टिका विषय क्षणिक है, उस दृष्टिके परिवर्तन होते हैं, और उस परिवर्तनमें आत्माको अनाकुलता प्राप्त होती नहीं है। बल्कि शुभोपयोगका जिनपर प्रसाद हो गया है, उनकी दशा यदि भगवती प्रज्ञाकी सुदृष्टि नहीं मिली तो बड़ी दय-नीय है। देव पञ्चेन्द्रिय, चारों संज्ञा वाले असंयमी होते हैं, उनमें सब लोकान्तिक व सब अनुदिश अनुत्तर विमान वाले तथा अन्य अहमिन्द्र आदि कुछ देव ऐसे हैं, जो भगवती प्रज्ञाकी भक्तिमें रहते हैं। अन्य तो सभी पंचेन्द्रियात्मक शरीररूपी पिशाचकी पीड़ासे परवश होते हुए मनोज्ञविषयोंमें गिर पड़ते हैं।

इन्द्रियसुखके लोभीकी करुण कहानी—इन्द्रियसुखका लोभी यह संसारी प्राणी संसार

Version 1

विषवृक्षसे गिरते हुए मधुबिन्दुके लोभीकी तरह मूर्ख बन रहा है। एक चित्र आता है, जिसमें दिखाया गया है कि एक पुरुषके पीछे एक हाथी लग गया, वह हाथीके भयसे जोरसे भागा तो उसे बचनेका कोई उपाय न दिखा, केवल यह ही दीख पड़ा कि सामने एक बड़का पेड़ है, जिससे कुछ झालें नीचे लटक रही हैं, उन झालोंको पकड़कर पेड़पर चढ़ जाना चाहिये। उस पथिकने वे झालें पकड़ीं, तो वह पासमें जो कुआं था उसके ऊपर लटक गया, ऊपर मधुका छत्ता था, उसमेंसे कुछ बूंदें मुसाफिरके मुंहपर पड़ीं तो मधुबिन्दुमें आसक्त होकर मुंह ऊपर कर लटका रहा। वहाँ उसके नीचे कुआं था, उसमें पांच अजगर थे, वे मुंह फाड़कर ग्रसनेको तैयार हो गये। वह पथिक अब सब दुःख भूल गया। नीचे सांप हैं, कुआं है। हाथी उस पेड़ को उखाड़कर फेंक रहा है। जिस डालकी झालोंपर झूम रहा है, उस डालको दो चूहे काट रहे हैं, मधुमक्खियाँ उस पथिकके अङ्गपर चिपट रही हैं। इतनी विपदावोंका प्रसङ्ग होनेपर भी वह पथिक मधुबिन्दुस्वादके लोभमें ही फंस गया। वहाँ कोई विद्याधर आता है, तो उसे बड़ी विपदामें देखकर समझाता है कि यहाँसे चलो, हमारे विमानमें बैठकर अच्छे स्थानपर विश्राम करो। परन्तु वह पथिक कहता है कि ऊपरसे यह बूंद आ रही है, इसका स्वाद और ले लूं।

व्यर्थ विकल्पसे चतुर्गतिभ्रमण—देखो भैया ! कितना गजब है, अपने आपपर कितना अन्याय है ? मोही जीव भी अनेक आपदावोंसे घिरा हुआ है, आयुक्षयरूप यम इसके पीछे लग रहा है, चारों गतिके चार सर्प और निगोदवासका महा अजगर मुंह फाड़े तैयार रहते हैं, रात दिवसके दोनों चूहे आयुका छेदन कर रहे हैं। परिवार, बन्धु, मित्र इसके चारों ओर चिपट रहे हैं। इतना तो विपदाका प्रसङ्ग है, परन्तु यह मोही सब विपदावोंको भूलकर विषयसुखमें ही लीन हो गया। सुयोगवश ज्ञानी गुरु भी समझानेको मिल जाय, तो वहाँ भी यह कहता है, सोचता है कि अभी यह सुख और भोग लूं, पुत्रकी शादी कर लूँ, पोतेको पढ़ा-लिखा लूँ आदि विकल्पोंमें जीवन बरबाद कर देता है। अहो ! बड़ा कष्ट है, अत्यन्ताभाव वाले पदार्थों में कितनी ममता लगा ली है ? निज स्वतंत्र स्वरूपको नहीं पहिचानता और दुःखी होता है।

अशुद्ध उपयोगमें दाहकी भेंट—भैया ! देख लिया शुभोपयोगका प्रसाद। परमतत्त्वका लक्ष्य करने वाले ज्ञानियोंके जब तक राग है, शुभोपयोग होता है। परन्तु अज्ञानी तो इसमें ही अपना हित समझकर शुभोपयोग करनेका यत्न करता है। सो होता क्या है, जैसा अंतरङ्ग है वैसा उपयोग हो जाता है अर्थात् अशुभोपयोग हो जाता है। रागमात्र सब हेय है। आत्मा का स्वभाव अविकारी है, उसके लक्ष्यसे अविकारी पर्यायका प्रवाह आता है। किसी भी परके लक्ष्यसे और निजके पर्याय अथवा भेदके लक्ष्यसे अविकारी पर्याय प्रकट नहीं होती। अतः समस्त भेदोंसे परे निर्विकल्प त्रैकालिक अखंड निज ध्रुव स्वभावको पहिचानो, फिर अशुभोप-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

योगका निशान न रहेगा, और जो शुभोपयोग होता हो, सो होवो, परन्तु श्रद्धा अविचलित रहनी चाहिये कि रागमात्र अहित है, अध्रुवसे क्या प्रीति करना ? मैं तो ध्रुव चैतन्यस्वभावी हूं। इस ही अखंड चैतन्यस्वभावका लक्ष्य हितकारी है। यहां भी जो लक्ष्य करना है, वह शुभोपयोग है, सो लक्ष्य हितकारी नहीं है, किन्तु उसके लक्ष्यमें लक्ष्यसे तो नहीं, परंतु योग्यता से सहज धर्मभाव प्रकट होता है। राग तो आग है। जैसे आग कंडेमें लगी हो तो दाह पहुंचाता है, और शीतल चंदनमें लगी हो तो वह भी दाह पहुंचाता है। इसी तरह अशुभोपयोग सम्बंधी राग तो नरकादि दुःखरूप दाह तो पहुंचाता ही है, किन्तु शुभोपयोग सम्बंधी राग भी स्वर्गीय विषयविषवृक्षका फल चखा देता है। वहाँ लोभी बनकर सम्यक्त्वको गांठसे खोकर एकेन्द्रिय तकका जन्म पा सकता है। अज्ञानियोंको तो शुरू व अंत सभी एकसा ही है, किन्तु ज्ञानियोंको भी सम्पदा भोग विचलित करनेमें निमित्त हो जाते हैं। अतः एक शुद्धोपयोगका आदर करो, अन्य व्यग्रता छोड़ो।

शुभोपयोग और अशुभोपयोगकी अविशेषताका घोषरण—अब तक इन्द्रियसुख दुःख-रूप हैं, ऐसा अनेक युक्तियोंसे सिद्ध किया। अब इन्द्रियसुखके साधन हैं पुण्य और पुण्यको रचने वाला है शुभोपयोग, और दुःखका साधन है पाप व पापदशाका रचने वाला है अशुभो-पयोग। यों शुभोपयोग और अशुभोपयोगमें भी विशेषता नहीं है, याने दोनों ही अशुद्ध उप-योग हैं, ऐसा कथन करते हैं। जैसे सुख और दुःख ये एक समान हैं, याने संसारके सुख भी क्षोभसे भरे हुए हैं और दुःख भी क्षोभसे भरे हुए हैं। अतएव जो शुद्ध ज्ञाता है, वस्तुतत्त्वके मर्मको पहिचानने वाला है, उसको यह भली प्रकार विदित है कि सुख और दुःख एक समान चीज हैं। जैसे सर्प सब एकसे ही विषैले हैं, चाहे सांपनाथ नाम रक्खो और चाहे नागनाथ नाम रक्खो। नामसे कहीं उनकी मूल प्रवृत्तिमें अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार सुखके भोगने में भी क्षोभ होता है याने क्षोभ लेकर ही सुखकी रचना होती है, और दुःखके भोगनेमें तो क्षोभ है ही याने क्षोभको लेकर ही दुःखकी रचना होती है।

पुण्य पापके साधनभूत शुभोपयोग और अशुभोपयोगकी अविशेषताका अवतारण—जैसे इन्द्रियसुख और दुःखमें कोई अन्तर नहीं है, इसी प्रकार सुख और दुःखके साधन हैं पुण्य और पाप। ज्ञानी संतकी विशुद्ध दृष्टिमें पुण्य और पाप भी समान हैं। जैसे पापसे हमारा कोई हित नहीं होता, इसी प्रकार पुण्यसे भी हमारा हित नहीं है। भला पापके उदयमें जैसे यहाँ कोई गरीब मनुष्य बना, और पुण्यके उदयमें कोई करोड़पति मनुष्य बना। तो उतनेसे उनकी मानसिक अशान्ति मिट गई हो, ऐसा तो नहीं है। पुण्यके उदयसे इन्द्र मनुष्य बन गया, पापके उदयसे कीट मकोड़ा बना है कोई जीव, पर इतने मात्रसे उसका विधान बन चुका हो कि अब यह मनुष्य कीट मकोड़ा न होगा पुण्यसे, ऐसा तो नहीं है। आज ऊँची

Version 1

दशाओंपर हैं, कल कहो मरकर कुछ और बन जायें। यों सुख दुःख समान हैं, और उसके कारण पाप पुण्य भी समान हैं। तब पापका कारण है अशुभोपयोग और पुण्यका कारण है शुभोपयोग। इन दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है, यानी शुभोपयोगमें और अशुभोपयोगमें कोई अन्तर नहीं है। यह किस दृष्टिसे बताते हैं, वह सब इस गाथामें आ रहा है।

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदिदेहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥७२॥

सुख दुःख दोनोंका क्षोभमें निर्माण—मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी, देव आदि ये शरीरसे उत्पन्न होने वाले दुःखको ही तो भोग रहे हैं। फिर जीवोंका शुभोपयोग अथवा अशुभोपयोगसे क्या उत्कृष्ट नतीजा निकला ? नारकी जीव तो दुःख भोगते ही हैं यह स्पष्ट बात है। तिर्यंचों में जो कुछ पुण्यवान तिर्यंच हैं, वे इन्द्रियजन्य सुख भोगते हैं। मनुष्य और देव इन्द्रियजन्य सुख भोगते हैं। लेकिन यह तो बताओ कि इन्द्रियजन्य सुखमें शान्तिका अनुभव होता है या क्षोभ का अनुभव होता है। यह बात तो हम आप सब अपने-अपने अनुभवसे भी समझ सकते हैं। हम इन्द्रिय विषयोंका सुख भोगते हैं, तो वहाँ शांतिका उदय रहता है या क्षोभ उत्पन्न होता है। खानेमें, अन्य विषयोंके सेवनमें, किसी रूपके निरखनेमें, रागके सुनने आदिमें जो प्रवृत्ति होती है उस प्रवृत्तिमें शांति रहती है या क्षोभ ? हापड़धूपड़, आसक्ति, आकर्षण रहता है, क्षोभ रहता है तो पञ्चेन्द्रियात्मक शरीरके कारण इन मनुष्य और देवादिकने भी दुःख ही भोगा, सुख नहीं भोगा।

पुण्य और पापके फलमें स्वाभाविक सुखकी अविशेषता—यदि शुभोपयोगसे उत्पन्न हुई पुण्य सम्पदा त्रिदशोंको याने देवोंको प्राप्त हुई है तो उनके भी स्वाभाविक सुख नहीं है, और अशुभोपयोगसे नारकी आदिकोंके कोई पाप आ पड़ा है, सो उनके भी स्वाभाविक सुख नहीं है। आपदायें आ पड़ी हैं तब दोनोंके ही दोनों अर्थात् पुण्योदय वाले और पापोदय वाले ऐसे इन्द्रियविषयजन्य सुख दुःख ही भोगते हैं। इस कारण परमार्थ दृष्टिमें, शुभोपयोगमें और अशुभोपयोगमें पृथक् व्यवस्था नहीं है कि अच्छा है या बुरा है। और भी देखिये—शुभोपयोगसे उत्पन्न हुआ जो फलवान पुण्य है, उसमें कितने दूषण पड़े हुए हैं ?

कुलिसादउहचक्कहरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धि करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥७३॥

इन्द्र चक्रियोंके भी भोगोंमें भ्रमसे सुखितपना—इन्द्र हैं, चक्रवर्ती हैं, ये अपनी इच्छा से जो कुछ भी भोग पाते हैं, उन भोगादिकसे शरीरको पुष्ट कर रहे हैं, सो वे जैसे जोंक खराब खूनमें अत्यंत आसक्त होकर अपनेको सुखी अनुभव करती है इसी प्रकार इन पञ्चेन्द्रियके विषयभोगोंमें आसक्त होकर ये इन्द्र और चक्रवर्ती भी अपनेको सुखी मालूम करते

Report any errors at vikasnd@gmail.com

होंगे अथवा दूसरे लोग सुखी देखते हैं। वस्तुतः वहाँपर भी उनके सुख नहीं है। जोंककी ऐसी प्रकृति होती है कि गाय भैंसके थनमें भी लग जाय तो वह दूधको नहीं ग्रहण करती है, जो खराब खून है, गंदा खून है, उसीको वह ग्रहण करती है। बहुतसे डाक्टर लोग जोंक रखते हैं, इस कामके लिए कि मनुष्यके शरीरसे जहाँसे खराब खून निकालना है, वहां उसे लगाकर निकाल लें। तो जैसे खराब खूनको पीकर वह जोंक अपनेको सुखी अनुभव करती है इसी प्रकार ये बड़े-बड़े इन्द्र चक्री बड़े-बड़े महापुरुष भी जिनके पुण्यका विशेष उदय है, तो वे भी पंचेन्द्रियके विषयोंमें इस तरह आसक्त हुए सुखी नजर आते हैं। तब यह निर्णय रखना कि शुभोपयोगसे उत्पन्न होने वाला पुण्य भी एक सांसारिक फलको देता है, उससे शांतिका उदय नहीं है।

शान्तिका अभ्युपाय—शांतिका कारण मात्र एक आत्मस्वभावका अवलम्बन है। जहाँ यह निरखा कि समस्त परभावोंसे परपदार्थोंसे विविक्त केवल ज्ञानमात्र यह मैं आत्मा हूं, ऐसा ही ज्ञानस्वरूप अपनेको अनुभवमें लिया, बस वहाँ ही शांति है, आनन्द है। अन्य परकी ओर आकर्षण हो तो उस आकर्षणकी प्रकृति ही ऐसी है कि वहाँ क्षोभ करता हुआ उपयोग होगा। यह ज्ञान अपने प्रभुकी समीचीनताको छोड़कर केवल वृत्ति द्वारा कहीं ज्ञानगुण आत्म-प्रदेशोंसे बाहर नहीं जाता, केवल एक वृत्ति द्वारा अपने प्रभुको त्यागकर बाहरकी ओर जाय तो इस प्रकार बहिर्गमनमें प्रकृति ही ऐसी पड़ी हुई है कि वहाँ क्षोभ होगा। तो पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें जिनका चित्त लगता है उनको क्षोभ ही है, शान्ति उत्पन्न नहीं होती। तब एक शुद्धोपयोग ही इस जीवका परमार्थ शरण है। अपने आपके सहजस्वभावका, शुद्धस्वभावका ही सही रूपमें निरन्तर उपयोग बनाये रहना, इसमें यह सामर्थ्य है कि संसारके ये सब संकट समाप्त हो सकते हैं।

सुख, दुःख, पुण्य, पाप, शुभोपयोग व अशुभोपयोगमें अनात्मरूपता—यहां ये ६ बातें हुईं, सुख दुःख पुण्य, पाप, शुभोपयोग और अशुभोपयोग। ये छहोंके छहों आत्मस्वरूपसे भिन्न तत्त्व हैं। न सुख आत्माका स्वरूप है, न दुःख आत्माका स्वरूप है। आत्माका स्वरूप तो आनन्द है। न पुण्य आत्माका स्वरूप है, न पाप आत्माका स्वरूप है। आत्माका स्वरूप तो ज्ञायकस्वभाव है। न शुभोपयोग आत्माका रूप है, न अशुभोपयोग आत्माका रूप है। आत्मा का रूप तो एक ज्ञानस्वभाव है। इस ज्ञानस्वभावके अवलम्बनमें ये छहोंके छहों परतत्त्व, परभाव वियुक्त हो जाते हैं।

आनन्दानुभवसे धर्मलाभ—एक ज्ञानतत्त्वके आलम्बनमें जो आनन्द उत्पन्न होता है उस आनन्दसे फिर ये सब अनादिकालसे परम्परासे चले आये हुए कर्म झड़ जाते हैं और एक आनन्द आनन्दका ही उनके अनुभव होता है। वह अनुभव मोक्षका मार्ग है। मुक्ति [illegible] सह

Version 1

कर नहीं मिला करती, किन्तु शुद्ध आनन्दका अनुभव करके मिला करती है। धर्म भी कष्टसे नहीं मिलता किन्तु आनन्दसे मिलता है। धर्मका स्वरूप क्या है—इसका जब परिचय होता नहीं है और लोकरूढ़िवश धर्मपालनकी बात मनमें है, क्योंकि यहाँ श्रद्धामें बनाया है कि धर्म पालन करे तो सब सुख समृद्धि होती है। परभवमें भी देव होंगे, यहाँ भी बड़ी सुख साता रहेगी, तो धर्मको जी चाहता है, किन्तु धर्मके स्वरूपका पता नहीं है तो ये सब संकट सहने पड़ते हैं—नहाओ, घंटों पूजामें खड़े रहो, अनशन करो आदि। तब खुदको भी और दूसरेको भी यह दिखने लगता है कि धर्म करना कोई सरल काम नहीं है, बड़ा कठिन है और बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं।

धर्मपालनमें कष्टका अनवसर—जो धर्मस्वरूपका परिचयी है वह इन व्यवहारिक बातोंमें इतनी हठ भी नहीं करता है साधारणतया निभ जाय जो बात सो करता है। उसमें इतनी हठ भी नहीं करता कि चलो इसका संकल्प किया है, सो निमोनिया है तो उसमें भी नहावो, काम करो, इतनी हठ भी नहीं होती। उसका आन्तरिक नियम तो प्रभुदर्शनका है। तो जब धर्मके स्वरूपका यथार्थ परिचय नहीं होता है तो धर्मकी बातें कष्टरूप मालूम होती हैं। धर्मपालन तो अत्यन्त सुगम है, जब जरा गर्दन झुकावो देख लो, अपना प्रभु अपनेमें ही है। तो चूंकि धर्मके स्वरूपका पहिलेसे परिचय नहीं, इसलिए एकदम पहिलेसे आनंदकी दिशा नहीं मिलती। पहिले तो अनादिकालसे अंधकारमें था, तो उसके चक्करका असर तो रहता ही है, इसलिए धर्ममें पहिले कष्ट सहना पड़ता है, और फिर बादमें आनन्द प्राप्त होता है। तो सुखमें, दुःखमें, पुण्य-पापमें और शुभोपयोग अशुभोपयोग—इनमें किसी भी प्रकारकी विशेषता नहीं है, इस प्रकरणमें यहाँ तक सिद्ध किया है।

पुण्यकी दुःखबीजहेतुताका उद्भावन—पुण्यके फलमें संसारी प्राणी विषयोंमें रमकर आसक्ति होनेके कारण सुखीकी तरह मालूम होते हैं, किन्तु वहाँ भी प्रारम्भसे अन्त तक क्षोभ ही भरा हुआ है। इसके अतिरिक्त पुण्यमें और क्या खासियत है? इसे अब और सुनिये—यह पुण्य दुःखके बीजका हेतु है। जो दुःखका कारणभूत परिणाम है, उस परिणाम का कारण किस दृष्टिसे यह पुण्य है? यों पुण्यके दुःखबीजकी हेतुताका उद्भावन करते हैं। उद्भावनका अर्थ है कि कोई चीज जो सबको प्रकट न हो, उसे उघारकर सबको प्रकट कर दे। इसमें एक यह भी एक पोल पड़ी हुई है कि यह पुण्य दुःखके बीजका हेतु है, यंह बात साधारण जनोंको प्रकट नहीं है तो इस पोलको ही मानो खोल रहे हैं।

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणाम समुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥७४॥

पुण्यकी तृष्णोत्पादकता—शुभोपयोग परिणामसे है उत्पत्ति जिनकी, ऐसे यदि ये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अनेक प्रकारके पुण्य मौजूद हैं ऐसा आप मानते हैं, अर्थात् किसी पुण्यवान जीवको देखकर यदि कुछ भी उनका स्तवन करते हैं कि इनका बड़ा पुण्य है तो सुनिये—यह पुण्य देव तक को भी याने बड़ें देवेन्द्रोंसे लेकर और समस्त संसारियोंको भी यह विषयतृष्णाको उत्पन्न करता है। जिस पुण्यकी लोग बड़ी तारीफ किया करते हैं—वाह क्या कहना, इनके तो बड़े पुण्य आ रहे हैं। यदि वैभव बड़ा आ रहा है, यदि परिजन भले हैं, मित्रजन आज्ञाकारी हैं, राज्यके बड़े ऊंचे ऊंचे ओहदे प्राप्त होते जा रहे हैं तो कहते हैं—वाह इनका बड़ा पुण्य है। तो उस पुण्यकी यह कहानी है कि यह पुण्य बड़े-बड़े देवों तकके भी, समस्त संसारियों तकके भी और की तो बात क्या कहें देवेन्द्रों तकके भी यह पुण्य विषयकी तृष्णाको ही उत्पन्न करता है।

तृष्णासे विषयप्रवृत्ति—अच्छा, होने दो तृष्णा, उससे कुछ हानि है क्या ? हाँ हानि है। तृष्णा होनेसे विषयोंमें प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे कि जोंक खोटे खूनको पीकर सुख मानती है, तो वह तृष्णाके बिना तो नहीं पीती, उसे तृष्णा है, आसक्ति है। तो जैसे तृष्णा के कारण जोंकको गंदा खून पीनेकी प्रवृत्ति है इसी तरह समस्त संसारी जीवोंकी, इन मोही प्राणियोंकी जो विषयोंमें प्रवृत्ति है वह प्रवृत्ति तृष्णाके बिना नहीं है। तो विषयतृष्णा होनेके कारण विषयोंमें प्रवृत्ति देखी जा रही है। अब ध्यानमें आया कि पुण्यका क्या फल है ? पुण्य का यह फल होता कि विषयोंमें प्रवृत्ति होने लगी।

विषयप्रवृत्तिसे संकट—कोई कहे कि होने दो विषयोंमें प्रवृत्ति, विषयोंके लिए ही तो सारा संसार उद्यम कर रहा है। इसीकी तो तारीफ की जा रही है कि बड़ा पुण्य है। कैसे-कैसे साधन मिले हैं, कैसे विषयभोग प्राप्त हैं, तो उन विषयोंकी प्रवृत्तिमें कुछ हानि है क्या ? ज्ञानी संत कहते हैं, हाँ हानि है। उन विषयोंकी प्रवृत्तिसे ही तो सारे संकट और दुःख आते हैं। तब भिन्न-भिन्न प्रकार एक-एक इन्द्रियकी मुख्यतासे विषयप्रवृत्तियोंमें प्राणघात हो जाता है जीवोंका। हाथीका स्पर्शनइन्द्रियके विषयमें, मछलीका रसनाइन्द्रियके विषयमें अधिक आसक्ति है, भंवरेका घ्राणइन्द्रियके विषयमें, पतिंगोंका चक्षुइन्द्रियके विषयमें और हिरण, सांप आदिकका कर्णइन्द्रियके विषयमें विशेष आसक्ति है, अतएव बंधनको प्राप्त होते हैं और मार डाले जाते हैं। अब देखो ना कि पुण्यका क्या फल है ? पुण्यका फल है क्लेश।

पुण्यवंतोंकी शानमें लाखों मनुष्योंका विनाश—इस पुण्यके फलमें इन जीवोंको क्लेश होना सो ठीक है, पर उन पुण्यवानोंके कारण हजारों और लाखों आदमियोंका भी ध्वंस हो जाता है, यह और खास अलग बात है। फलाने चक्री बड़े पुण्यवान, फलाने राजा महाराजा बहुत पुण्य वाले हैं या आजकलके राष्ट्रपति, मिनिस्टर आदि राज्याधिकारोंको लोग कहते हैं कि ये बड़े पुण्य वाले हैं, पर उनकी हालत देखो—तृष्णा लगी है, संसारमें अपना नाम कमाने

Version 1

की धुनमें लगे हैं, और उस धुनमें लड़ाई भी करते हैं और हजारों, लाखों, करोड़ों आदमियों को पीड़ा पहुंचाते हैं। तब देखो ना, पुण्यमें क्या-क्या करामातें हुईं? खुदको भी क्लेश होता और उसके उस क्लेशके कारण लाखों मनुष्योंको भी क्लेश होता है। यह पुण्यकी तारीफ की जा रही है। मोही लोग तो पुण्यकी तारीफ अज्ञानवश उपादेयके रूपमें करते हैं, और यह पुण्य हेय है। इस बातको दिखाते हुए आचार्य महाराज तारीफ कर रहे हैं।

पुण्यफलका क्षणिक स्वप्न—भैया! और भी सोचते जाइये, पुण्य है, मान लो जिंदगी बड़ी अच्छी कटी, किसी बातका कष्ट नहीं होता। होता नहीं है ऐसा। कष्टमय ही सबका जीवन है। कोई कष्टको ही सुख मान ले, यह तो उसके मोहकी बात है। मान लो उसकी दृष्टिमें जीवनमें कोई कष्ट नहीं रहा, सब विषयोंके साधन अच्छे हैं, सब प्रकारका मौज है, लेकिन उसके साथ मूढ़ता भी लगी हुई है, अपने आपके स्वरूपका होश भी नहीं है, अज्ञानका अंधेरा छाया है, और ये दिन थोड़ेसे व्यतीत हो गए, उस मौजकी दृष्टिके माफिक तो यह मौज क्या कीमत रखता है? अथाह जो स्वयंभूरमण समुद्र है, जो करीब-करीब आधे राजू प्रमाण है, इतने बड़े समुद्रमें से एक बूँद निकले तो समुद्रके आगे उस एक बूँदकी भी कुछ गणना हो सकती है, किन्तु इस अनंतकालके सामने हम आपके ये ५० वर्ष, १०० वर्ष अथवा हजार वर्ष, लाख वर्ष, करोड़ वर्ष भी अथवा देवोंकी सागरों पर्यन्त आयु कुछ भी गणना नहीं रखता, मिल भी गया मौज पुण्यके उदयमें तो यह रमनेके योग्य नहीं है।

शुभोपयोगके हेयपनकी दृष्टि—पुण्यकी दुःखबीजहेतुताकी बात सुनते हुए साथ-साथ यह भी अंतरमें निहारते रहना चाहिए, जहाँ दुःखको हेय कहा, इन्द्रियसुखको हेय कहा, वहाँ यह भी समझना चाहिए कि इन सबका जो मूल है शुभोपयोग उस शुभोपयोगमें ये ये बातें बनी हैं, सो वह शुभोपयोग भी हेय है, यह चर्चा चल रही है। जिन्हें शुद्धोपयोगकी रुचि हुई है, और शुद्धोपयोगके मर्मको जिन्होंने पहिचाना है, शुद्धोपयोगका फल जो कैवल्य है, वह कैवल्य ही आनंदकी अवस्था है, ऐसा जिनका दृढ़ निर्णय है और जिन्होंने इस कैवल्य अवस्था के लिए ही अपना कदम उठाया है, उनकी दृष्टिकी बात कही जा रही है कि उनकी दृष्टिमें शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों बराबर नजर आ रहे हैं। अशुभोपयोगसे तो हित किसीका भी नहीं है, किसीकी ही दृष्टिमें नहीं है, पर जिन्हें आत्माकी कैवल्य अवस्था प्रिय है, उनकी दृष्टिमें शुभोपयोग भी हितरूप नहीं है।

शुभोपयोगको करके भी शुभोपयोगके अग्रहणकी दृष्टि—देखिये भैया! साधु संतोंकी वृत्ति कि शुभोपयोगको करते जा रहे हैं, और शुभोपयोगको हेय मानते जा रहे हैं, और है भी उन्हींकी बात सच। जो शुभोपयोगसे दूर रहें और शुभोपयोगको हेय मानें, उनकी बात सच नहीं मानी जा सकती है, और भी जो धर्मात्मा बनकर उनकी विडम्बना बनती है कि जो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

घमंडसे समझिये या किसी तृष्णासे समझिये—व्यावहारिक क्रियाएँ अथवा शुभोपयोगकी बातें नहीं करते हैं और शुभोपयोगको मना करते हैं, तथा शुद्धोपयोगकी अवस्था है ही नहीं तो विडम्बना बन जाती है। ये संत जन क्या करें ? जिन्हें शुद्ध मार्गके तो दर्शन हो गए हैं, किन्तु उदयवश, परिस्थितिवश उस शुद्धोपयोगके मार्गपर यथेष्ट चल नहीं पाते, तो ऐसी परिस्थिति जिन ज्ञानियोंकी है, उनकी वृत्ति अशुभोपयोग और शुभोपयोग—इन दोनोंमें से क्या हो सकती है, अंदाज कीजिए ? शुभोपयोगकी वृत्ति होती है, और शुभोपयोगकी वृत्ति रखते हुए चित्तमें कभी भी यह भ्रम नहीं हो सकता कि यह शुभोपयोग मेरे लिए उपादेय है।

दृष्टान्तपूर्वक शुभोपयोगके प्रवर्तन और अग्रहणका समर्थन—जैसे किसी रोगीको ज्वर है, उस ज्वरमें कड़वी मीठी सभी प्रकारकी दवायें पीनी पड़ती हैं। चाहे मीठी ही औषधि क्यों न पीता हो, पर क्या उस रोगीके चित्तमें यह बात आ सकती है कि ऐसी औषधि हमें जिन्दगी भर मिलती रहे ? यद्यपि औषधिमें उसे राग है, समयपर औषधि न मिलनेपर वह परिजनोंपर झुंझलाता है, बड़ा प्रेम रखता है उस दवासे, लेकिन उसके दिलसे पूछो कि क्या तुम ऐसी दवा जीवनभर पीना पसंद करते हो, तो वह तो यही कहेगा कि हम नहीं चाहते हैं। इसी तरह यह संसार निवासका रोगी ज्ञानी पुरुष इस रोगनिवारणके प्रयासमें चाहता तो है कि मैं स्वस्थ रहूं, जिसमें कुछ नटखट भी नहीं करने पड़ते, लेकिन परिस्थिति ऐसी है कि वह दशा प्राप्त नहीं है। जब शुभोपयोगकी औषधि पी रहा है और प्रेमसे पी रहा है, कहीं ऐसा नहीं है कि घृणा करके, न चाह करके जबरदस्ती जैसे बच्चेको पिलाया जाता हो, इस तरह पीता हो, पी रहा प्रेमसे, शुभोपयोग कर रहा है, समयका भी बड़ा ख्याल रखता है। सामायिकका समय हो गया, अब हमें सामायिक करना है। पूजनका समय हो गया, हमें पूजन को जाना है, समयपर सब काम भी करता और प्रेमपूर्वक करता, इतनेपर भी जो ज्ञानी हो, उससे कोई पूछे—क्या तुम ऐसी सामायिक, ऐसा पूजन अनंतकालके लिए चाहते हो ? तो उसका उत्तर होगा—नहीं। हम तो समस्त कर्मोंसे रहित, केवल स्वरूपस्थ रहना चाहते हैं।

पुण्यवंतोंको तृष्णाका उपहार—जिस ज्ञानी पुरुषको शुभोपयोगके फलमें प्राप्त हुआ पुण्यबंध, पुण्यके फलमें प्राप्त हुई तृष्णा और तृष्णाके फलमें प्राप्त हुआ क्लेश, इन सबका विधिविधान मालूम है, उस ज्ञानी संतकी दृष्टिमें यह बात स्पष्ट है कि पुण्य दुःखके बीजका हेतु है। दुःखका बीज है तृष्णा, और तृष्णाका कारण है यह पुण्य। जैसे-जैसे सामग्री आती है, पुण्य आड़े आता है, तृष्णा पसरती जाती है। कोई जंगलमें देहातमें रहने वाले पुण्यहीन किसानकी तृष्णा देखो तो वह यह न चाहेगा कि हमें संयुक्त राष्ट्रसंघकी अध्यक्षता मिले, और शहरके निवासी पढ़े-लिखे अच्छे ओहदोंपर रहने वाले लोगोंमें यह तृष्णा मिलेगी। तो तृष्णा का प्रसार पुण्यवंतोंके होता है, तृष्णाकी गिफ्ट पुण्यवंतोंको प्राप्त है, और यह तृष्णा आगामी

Version 1

दुःखका कारण है। तो इस तरह जो पुण्य है वह तृष्णाका घर है, यह बात अबाधित सिद्ध हुई है। अब पुण्य दुःखका बीज है, इस बातकी घोषणा करते हैं।

जे पुण उदिण्हतिण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुहवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥७५॥

तृष्णासे विषयाभिलाषा और दुःखानुभव—साधारण संसारी जीवोंसे लेकर देवों तक के समस्त संसारी जीव इन पुण्यकर्मोंसे रची हुई तृष्णावोंके द्वारा विषयोंसे सुखकी अभिलाषा करके दुःखी होते हैं। जैसे मृग जलकी प्राप्तिके लिए मृगमरीचिकाको जल समझकर दौड़ लगाता है, जलकी इच्छा करता है ऐसे ही ये समस्त संसारी जीव विषयोंसे सुखकी अभिलाषा करते हैं। पुण्यके फलमें प्राप्त हुई तृष्णा और तृष्णाके फलमें विषयोंसे सुखकी अभिलाषा करने लगते हैं।

प्रभुके निकटमें भी कैसी विडम्बना—एक कहावत है कि काँखमें लड़का गाँवमें शोर। कोई महिला अपनी गोदमें लड़केको लिए है और न जाने कैसी बुद्धि हो गई, कहाँ चित्त चला गया, कहाँ भ्रान्ति बन गयी कि वह गाँव भरमें पूछती फिरती है—हाय मेरा लड़का कहां गुम गया? ऐसा कोई करे तो उसे आप कितना मूढ़ समझेंगे? ऐसे ही समझ लो कि अपना प्रभु स्वयं है, एक निकटताकी दृष्टि करें तो अत्यन्त स्पष्ट है। तो अत्यन्त निकट विराजमान क्या स्वयं स्वस्वरूप प्रभुके साथ ही तो हम रह रहे हैं, जो प्रभु परिपूर्ण आनन्दमय है, ज्ञानस्वरूप है, ऐसे ज्ञानानन्द प्रभुके निकट ही तो हम हैं। वही तो हम हैं और बाहरमें हम विषयोंसे सुख ढूंढ़ रहे हैं, अपने ज्ञानवृद्धिकी कोशिश कर रहे हैं, इस पुस्तकसे ज्ञान मिलेगा, इस मास्टरसे ज्ञान मिलेगा, इन विषयोंसे सुख मिलेगा, यों बाहर बाहर ही दृष्टि गड़ाये रहते हैं, ऐसी प्रवृत्ति वालोंपर हँसे कौन, इन्हें मूढ़ कहे कौन? जब सब ही इस पार्टी में शामिल हो गए तो फिर इन्हें मूढ़ कौन कहने वाला है? ये सब बातें अपने आपमें अपना चिन्तन करनेकी हैं।

स्वाध्यायके लाभकी पात्रता—जब स्वाध्याय करते हैं लोग तो स्वाध्यायके समयमें स्वाध्याय करने वाले दो प्रकारकी प्रवृत्ति वाले होते हैं—एक तो ऐसे लोग जो अपना उपयोग बाहर रखकर किताबके अक्षरोंमें क्या कहा गया है, ठीक है, यह हम सभी लोगोंको बतावेंगे ऐसा ही सबको समझावेंगे, जिनकी इन बातोंपर दृष्टि है वे स्वाध्यायके लाभको प्राप्त नहीं कर पाते और जो उस वाक्यसे, उस मंतव्यसे अपने आपमें ही कुछ खोजनेकी उत्सुकता रखते हैं, जो कहा गया है, उसे अपने आपमें खोजते हैं। इस प्रकार अपने अंतःअन्वेषणकी विधि बनायें, वे स्वाध्यायसे लाभ ले लेते हैं। आत्मानुशासनमें जहाँ श्रोताके गुण बताना शुरू किये हैं तो सबसे पहिले यह बताया है कि जो भव्य हो, वही तो वास्तविक श्रोता है। तो यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

बात तो कुछ करने धरनेकी नहीं हुई। बता दिया कि भव्य ही यथार्थ श्रोता हो सकता है, पर जहाँसे करने धरने और परीक्षणकी बात कही गई है तो एकदम कह दिया गया है कि मेरा क्या हित है, मेरी किसमें कुशलता है? ऐसा जो विचार रखता हो, वही वास्तविक श्रोता है। यों ही वक्ताको समझिये। यों ही स्वाध्याय करने वालोंको समझिये।

श्रोतृत्व——भैया! यहाँ तो सब श्रोता हैं। श्रोता और श्रावकमें क्या अन्तर है? श्रोताका अर्थ है जो सुने। यह श्रावक भी हर एक क्रियामें कुछ न कुछ सुनता ही रहता है, इसलिए सीधा उसका नाम श्रावक है। पूजन कर रहा है, वहां भी कुछ सुन रहा है। सुनना कौन चाहता है, जो स्वयं कुछ अभीष्ट प्रयोजनमें परिपूर्ण सिद्ध न हुआ हो, और जिसके समस्त प्रयोजन पूरे हो गए, वह तो कहेगा कि अब हमें नहीं सुनना है। जैसे कोई दो पुरुष हैं, उनका आपसमें व्यवहार है, लेन-देन है, सम्बंध है। तो जब तक एक पुरुष फंसा हुआ है किसी बातमें और दूसरा पुरुष परिपूर्ण हो गया है, उसके हाथ सब आ गया है तो एक कहता है–अरे सुनो तो, दूसरा कहता है–अरे हमें नहीं सुनना है। तो सुननेकी इच्छा किसको होती है, जो अपने प्रयोजनमें पूर्ण सिद्ध न हुआ हो।

श्रावकका श्रोतृत्व गुण——श्रावक तो सदैव सुनने वाला कहा जाता है। चाहे वह दान कर रहा हो, भक्ति कर रहा हो, प्रवचन कर रहा हो, सेवा कर रहा हो, हर समय उसे सुनना ही सुनना रहता है। चुपचाप भी सुनना होता है, और कोई बोले उसका भी सुनना कहलाता है, साधुवोंकी सेवा कर रहा है तो बहुतसी बातें वह सुन रहा है। साधु चाहे मौनमें हो, पंथ तो यह ठीक है, परिग्रह और आनंदमें बड़ा क्लेश है, यह साधुसे सुना रहा है और श्रावक सुन रहा है। तो श्रावक सदैव सुनने वाला है, क्योंकि उसका प्रयोजन परिपूर्ण सिद्ध नहीं हुआ। साधुवोंको आहार दे रहा है, वहाँ भी सुन रहा है। धन्य है इनकी वृत्ति, कितना त्याग किया, अपने आपकी ओरका अनुराग कितना वैराग्य, यों जाननहारकी वृत्ति ही शान्तिका मार्ग है। ये सब बातें वह सुन रहा है। भगवानके दर्शन करते हुएमें भगवान कुछ बोलते यद्यपि नहीं हैं, फिर भी यह श्रावक बहुतसी बातें सुन रहा है, सुनाने वाला कौन? तो थोड़ा यों कह लीजिए कि प्रभुकी तरह हममें बसा हुआ ही प्रभु हमें सुना रहा है, और यह प्रभुका भक्त उपयोग यह यहाँ सुन रहा है।

वास्तविक शान्तिके अर्थ कर्तव्य——भैया! धर्ममार्गमें कोई चले तो उसको अपने निकट बसे हुए प्रभुके दर्शन होंगे। उसके निकट आये, उसकी बातें सुने और उस प्रसंगमें जो ज्ञान-प्रताप हो उसका अनुभव करें, तभी शांतिका पथ मिल सकता है। इन पुण्योंकी तारीफमें और इनकी उत्सुकतामें जीवका कभी भी हित नहीं हो सकता। विभावजालमें बसनेसे क्या हित है, चाहे वह विभावजाल सुहावना हो या असुहावना हो। सभी विभाव आकुलताके

Version 1

साधक होते हैं। जिन्हें निराकुल रहनेकी अभिलाषा हो, उन्हें पुण्यपापसे रहित शुद्ध चैतन्य-स्वभावकी उपासनामें वर्तना चाहिये।

सुखकी चाहमें क्लेशसंतापका वेग—संसारी जन पुण्यसे रची हुई तृष्णावोंसे अत्यन्त दुःखी होकर विषयसुखोंकी चाह करते हैं। सो सुखकी चाहमें तो दुःखके संतापका वेग होता है। इसी सुखकी चाहको निदान कहा करते हैं, और निदान नामक आर्तध्यान बताया गया है। निदानमें भी बहुत तीव्र पीड़ा होती है—अपने मंसूबे बाँधना, शेखचिल्ली जैसी बातें विचारना, भोगोंकी इच्छा करना, वैभव सम्पदाकी अभिलाषा रखना, इन सबसे निदान नामका आर्तध्यान होता है। आर्तध्यान उसे कहते हैं जो दुःखपूर्ण ध्यान हो, जिसमें दुःख ही दुःख हो, ऐसा ध्यान भी पुण्यवान जीवोंके होता है। सुखकी इच्छा करनेमें दुःखके संतापका एक वेग होता है, एक संताप होना और एक उसका वेग चलना। संतापसे भी भयंकर संतापका वेग होता है। जैसे एक गर्मी होना और एक लू चलना, तो गर्मीसे भी अधिक पीड़ा लू में होती है। लू गर्मीका वेग है। इसी तरह सखकी अभिलाषा दुःखसंतापका वेग है। उस वेगको न सह सकते हुए ये पुण्यवान जीव विषयोंका अनुभव करते हैं, और विषयोंमें तब तक प्रवृत्ति करते रहते हैं जब तक कि ये बरबाद न हो जायें।

विषयाभिलाषियोंके आमरण क्लेश—जैसे कि जोंक गंदे खूनको तब तक पीती रहती है जब तक कि वह प्रलयको न प्राप्त हो जाय। जोंक प्रायः गंदा खून भरपेट पीकर मरा करती है, जोंक आसक्तिसे गंदे खूनको पी जाती है और खूब पेट भरे पीती है। वह छूटती तब ही है जब उसे पीनेकी और ताकत नहीं रहती, तब छूटकर उस पेट भरे गंदे खूनके कारण वह प्रलयको प्राप्त हो जाती है। तभी तो डाक्टर लोग जो कि जोंक रखते हैं कोई मनुष्यके किसी हिस्सेका गंदा खून निकालनेके लिए। जब जोंक खूब खून पी लेती है, अपने आप छूट जाती है तो उसे किसी प्रकार धीरेसे मसलकर खूनको उसके पेटसे निकाल देते हैं, नहीं तो वह जोंक जल्दी मर जाती है। तो जैसे जोंक गंदे खूनको तब तक पीती रहती है जब तक कि वह प्रलयको प्राप्त न हो जाय, बरबाद न हो जाय, इसी प्रकार पुण्यवान जीव विषयोंकी अभिलाषासे उत्पन्न हुए संतापके वेगको न सहकर तब तक विषयोंमें प्रवृत्ति करते रहते हैं जब तक कि ये बरबाद न हो जायें, मर न जायें। अर्थात् सारी जिन्दगीभर विषयोंमें प्रवृत्ति करते हैं और विषयोंमें प्रवृत्ति करनेके कारण अकालमरणको भी प्राप्त होते हैं।

तृष्णासे विषयोंमें आकर्षण और अभिपात—जैसे कि जोंक तृष्णाके कारण गंदे खून की ओर क्रम-क्रमसे आकर्षित होकर खूनके सुखका अनुभवन करती हुई जब तक उसका प्रलय न हो जाय तब तक क्लेश पाती है इसी प्रकार यह पुण्यवान जीव भी पापियोंकी तरह तृष्णाके कारण इन दुःखोंके वेगसे उन विषयोंमें क्रमसे झुकता रहता है। जैसे कोई तृष्णावी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

पुरुष शरीरसे कमजोर है, फिर भी वह धीरे-धीरे विषयोंके लिए अपनी क्रियायें करता रहता है, इसी प्रकार यह पुण्यवान जीव भी क्रमसे उन विषयोंकी ओर आकर्षित होता है, उन विषयोंकी अभिलाषा करता है, और विषयोंके निकट पहुंचकर जब तक उसका मरण नहीं होता तब तक क्लेश पाता ही रहता है। एक ऐसी धारणा बनायें कि इस मनुष्यमें मात्र इच्छा भर न रहे, फिर इसकी क्या स्थिति होगी ? सुखी हो जायगा।

निदानका विकट क्लेश—जितने भी दुःख होते हैं, वे अभिलाषासे होते हैं। जैसे कष्ट इष्टके वियोगमें होते हैं, अनिष्ट पदार्थोंके संयोगमें होते हैं, शरीरमें रागादिक उत्पन्न होते हैं वैसे ही कष्ट सुखोंकी, विषयोंकी अभिलाषा रखनेसे होते हैं। चित्त चंचल रहता है, किसी अन्य जगह मन नहीं लगता, बुद्धि भी काम नहीं करती। अन्तरङ्गमें आकुलता और क्षोभ बना रहता है। आशा प्रतीक्षामें उस इच्छाकी ही तरह दुःख होता है। इच्छा, आशा और प्रतीक्षा ये तीनों यद्यपि तृष्णासे ही सम्बंधित हैं, किन्तु इच्छासे अधिक आशामें क्लेश है, और आशासे अधिक प्रतीक्षामें क्लेश है। यों इच्छा, आशा और प्रतीक्षा कर करके ये जीव जब तक क्षयको प्राप्त न हो जायें, बरबाद न हो जायें तब तक क्लेश पाते रहते हैं।

इन्द्रियसुख और दुःखमें समानताका निर्णय—इससे यह निर्णय करना कि पुण्य भी दुःखोंका ही साधन है। यह दुःख सुखाभास है। है तो दुःख और सुख-सा लगता है। ऐसे सुखाभासके कारणभूत पुण्यकर्म होते हैं। जिन्होंने परम आनन्दस्वरूप निज ब्रह्मके दर्शन किये हैं और सत्य आनन्दका अनुभव किया है, वे पुरुष भली प्रकार जानते हैं कि पापके फलमें जो क्लेश होता है और पुण्यके फलमें जो सुखाभासके अनुभवका क्लेश होता है वे सब क्लेश एक समान ही हैं, अर्थात् इस शुद्ध आनंदके समक्ष इन्द्रियजन्य सुख और दुःख दोनों ही हेय हैं। इस प्रकार पुण्यकृत इन्द्रियसुखको दुःखरूप बताया गया है।

इन्द्रियसुखका दुःखरूपमें उद्योतन—अब फिर भी बहुत-बहुत प्रकारसे इन्द्रियजन्य सुखोंकी दुःखरूपताका उद्योतन करते हैं। इन्द्रियसुख दुःखरूप है। इस प्रकारके वर्णनमें यह अन्तिम गाथा है, और जैसे किसी वस्तुको दिखाकर अनेक बार अनेक तरहसे बताकर या जो कोई कला चमत्कार हो उसे दिखानेके बाद जो अंतिम दिखावट होती है, वह एक अंतिम झाँकीका रूप देकर होती है। जैसे कवि लोग कविता बनाते हैं तो जितने भी उसमें छंद रखे हैं, अन्तिम छन्द न आने तक सब बोल जाते हैं और अंतमें एक बार आगाह करते हैं कि अब यह अंतिम है, और उस अन्तिममें ऐसा उस कविताका निचोड़ होता है कि दो ही तुकोंमें कविताका सब भाव आ जाय और बड़े अलङ्कारके ढंगसे आ जाय, तो उसे एक झाँकीकी तरह बोलते हैं, और उस अन्तिम बोलसे लोगोंके चित्तमें उसका भाव भर जाता है। ऐसे ही इन्द्रियसुखको दुःख बनानेके इस प्रकरणमें यह अन्तिम गाथा है, और इसमें सभी प्रकारका

Version 1

भाव आ जाय, ऐसी एक अन्तिम झाँकी देते हैं अर्थात् इन्द्रियसुखका दुःखरूपसे उद्योतन करते हैं।

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥७६॥

पराधीन सुखकी दुःखरूपता—इन्द्रियसुख पराधीन है। जो पराधीनतामें सुख मिले उस सुखको तो लोग सुख नहीं कहते, दुःख कहते हैं। जैसे किसी देशपर किसी विदेशीका राज्य हो, और वह विदेशी राज्य बड़ी सुख सुविधायें भी प्रदान करता हो, लेकिन प्रजाके लोग अपनेको दुःखी अनुभव करते हैं। हम आजाद तो नहीं हैं, दूसरोंका राज्य है, अपनेको गुलाम मानकर चित्तमें पीड़ित बने रहते हैं, और आजादीकी प्राप्तिके लिए असहयोग आन्दोलन आदिकके अनेक कष्ट भी भोगते हैं, आजादी मिलनेपर कष्टोंको भोगते हुए भी अपने आपको आनन्दमग्न पाते हैं। तो पराधीनतामें लोकमें भी सुख नहीं मानते। लेकिन यहाँ तो बहुत अधिक पराधीनता है। व्यवहारमें आजाद और स्वतंत्र कहलाने वाले व्यक्ति भी आजाद नहीं हैं, वस्तुतः वे भी परतंत्र हैं। प्रथम तो अनुकूल कर्मोंका उदय होना चाहिए, यही एक पराधीनता है। फिर उसके साथ अनेक विषयसामग्री मिलनी चाहिए, फिर ये द्रव्येन्द्रिय—आँख, कान वगैरा भी हमारे समर्थ होना चाहिए। पुण्यका उदय भी निकल रहा है, विषयसामग्री भी मौजूद है, लेकिन बहिरे हो गए, अन्धे हो गए अथवा जिह्वामें रोग हो गया। तो अब क्या भोगेंगे? तो ये हमारी इन्द्रियाँ भी समर्थ चाहिएँ आदिक अनेक पराधीनताएँ इस इन्द्रियसुख में हैं। जिस सुखमें पराधीनता हो वह सुख नहीं है, सुखाभास है, दुःखरूप ही उसे समझना चाहिए।

बाधासहित सुखकी दुःखरूपता—इन्द्रियजन्य सुख अनेक बाधावोंसे सहित है। जब क्षुधा उत्पन्न होती है, पिपासा उत्पन्न होती है, अनेक तृष्णायें उत्पन्न होती हैं तब यह जीव अत्यन्त आकुल रहता है, और इसकी यह आकुलता ही सुखमें बाधारूप है। यह तो भीतरी बाधा बतायी जा रही है कि इन्द्रियसुखमें भीतरी बाधायें क्या क्या निरन्तर चला करती हैं? बाहरी बाधायें भी अनेक हैं। किसीने किसीकी आयमें विघ्न डाल दिया, भोजनमें विघ्न डाल दिया या किसी विषयभोगमें विघ्न डाल दिया तो ये व्यवहार बाधायें हैं, किन्तु इच्छा लगी रहना और तृष्णाका वेग बना रहना यह आन्तरिक बाधा समस्त इन्द्रियसुखोंमें पायी जाती है। जिस इन्द्रियसुखमें ऐसी बाधायें हों, वह सुख सुख नहीं है, दुःख ही समझना चाहिए। तो दूसरा ऐब है इन्द्रियसुखमें कि वह बाधा सहित है।

विषयोंमें सुखका अनवसर—जैसे लोग कहा करते हैं कि जब दाँत थे तब चना नहीं जुड़े, और जब चने जुड़े तो दाँत नहीं रहे, तो चने कभी जिन्दगीमें खा न पाये। ऐसे ही सम-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भिये कि जब इच्छा की तब तो चीज न थी, और जब चीज मिली तो अन्य इच्छा हो गयी अथवा उस सम्बन्धमें तृष्णा हो गयी तो भी उसका सुख न ले सके। विषयोंका सुख केवल कल्पनामात्र है। न तो विषयसुखोंकी आशामें सुख है, और न विषयसुखोंके अनुभवके कालमें भी सुख है। मोहवश कोई कल्पना करे यह अन्य बात है। तो जिसमें इतनी आकुलताएं हैं, वह सुख दुःख ही है।

विच्छिन्न सुखकी दुःखरूपता—इन्द्रियसुखमें तीसरा ऐब क्या है कि यह विनाशीक है। यह इन्द्रियसुख क्षणभर इस स्थितिमें प्राप्त होता है जब कि असाता वेदनीयका तो उदय न हो और साता वेदनीयका उदय आ रहा हो, ऐसी स्थिति निरन्तर बनी रहना संसारी जीवोंमें कहाँ सम्भव है? अन्तर्मुहूर्तसे अधिक साता वेदनीयका उदय किसीके सम्भव नहीं है। भले ही कोई ज्ञानी पुरुष हो और उसके असाता वेदनीयका उदय उदयाक्षणसे कुछ ही समय पहिले साता वेदनीयके रूपमें बदलकर आये एक ही समय पहिले स्तिबुक संक्रमणका रूप रख कर किसी विशिष्ट योगीश्वरके अथवा तेरहवें गुणस्थानके सयोगकेवलीके ऐसा हो जाय। पर यह तो प्रसंग मुक्तिका है। किसी भी समागममें निरन्तर सुख नहीं है।

विनाशीक सुखोंकी एक झलक—बच्चोंका काल्पनिक सुख लूटा तो थोड़ी ही देरमें बच्चोंकी ही किसी क्रियाको देखकर क्लेश भी होने लगता। वैभव आनेसे कुछ काल्पनिक सुख हुआ, लेकिन थोड़ी ही देर बाद कुछ अन्य इच्छा हो जानेसे अथवा कैसे रखें, कहाँ रखें, किसे दें, अनेक कल्पनाएं हो जानेसे उसका सुख नहीं रहता। घरमें बच्चे दो चार हो गए, उन बच्चोंका काल्पनिक सुख लूट लिया। कुछ ही समय बाद ये चिन्ताएं घेरते हैं कि इन सब बच्चोंको अलग-अलग स्थान तो चाहिए। ये बड़े होंगे, इनके भी बालक होंगे, तो ये सब एक जगह तो न रह सकेंगे। जीवनमें रोज-रोज नई-नई इच्छाएं और चिन्ताएं बनी रहा करती हैं। देखनेमें यों लगता है कि हम रोज नया कुछ काम नहीं कर रहे हैं, वहीका वही कर रहे हैं, लेकिन हो रहा है सब नया-नया। नया ध्यान, नई चिंता, नया प्रोग्राम। सब नई-नई बातें इन संसारी जीवोंमें उत्पन्न होती हैं और ये दुःखी होते रहते हैं। तो थोड़ी देर को साता वेदनीयका उदय होनेसे इस सुखका अनुभव होकर क्षण भरके ही बाद असाता वेदनीयका उदय आ पड़ता है तो यह दुःखी हो जाता है। कोई-सा भी सुख निरंतर सुखकी लगार बनाये रहे, सो नहीं होता।

इन्द्रियसुखोंकी अस्थिरता—अभी-अभी एक प्रश्न हुआ कि प्रवचन सुनते समयमें तो कोई क्लेश नहीं है, घंटाभर भी अच्छा इसे ही सोचिये—अभी प्रवचन सुन रहे हों और बड़ा आनन्द लूटा जा रहा हो, लेकिन प्रवचन सुननेमें ही कोई शंका उत्पन्न हो और चर्चा करे, सो कुछ क्लेशका अनुभव हुआ तब कि नहीं? तो असाताका उदय आया ना! और सुनते-सुनतेमें

Version 1

निरंतर कितनी ही इच्छायें जगती रहती हैं, और अनेक प्रकारकी तो ऐसी इच्छायें जगती हैं कि यह खुद खुदको भी नहीं समझ पाता कि इसमें कितनी कल्पनाएँ जगीं, कितनी इच्छायें जगीं ? किसी भी प्रसंगमें निरन्तर सुख नहीं मिल सकता है संसारअवस्थामें । और देखिये—क्षण-क्षणमें साता असाता बदलती रहती । तो जब असाता वेदनीयका उदय हुआ तो इसके क्लेश हो गया । यों जो सुख विनाशीक है, उसे क्या सुख माना जाय ? वह तो दुःखरूप है ।

बन्धके कारणभूत सुखकी दुःखरूपता—इन्द्रियसुखोंका चौथा ऐब है कि यह बंधका कारण है । विषयोंका उपभोग करनेके मार्गसे तो रागादिक दोषोंकी सेना लग गयी । विषयोपभोगके प्रसंगमें कोई एक ही प्रकारका रागादिक रहता है क्या ? कितने ही प्रकारके राग चलते हैं विषयोंके उपभोगके मार्गसे । एक भोजनके प्रसंगमें ही ले लो, कितनी तरहके राग चलते हैं ? जितनी तरहकी स्वादिष्ट चीजें हैं, उतने मन तो होते ही हैं, और एक चीजके खानेके प्रसङ्गमें कितनी तरहके राग चलते रहते हैं । किसी भी इन्द्रियसुखमें लगाव होनेसे अनेक प्रकारके रागादिक दोष चलते हैं । जब रोटी खाते-खाते पेट भर गया, जब तक खाते रहे तब तक कोई फूली रोटी न सिकी, और जब खा चुके, पेट भर गया तब फूली रोटी सिक रही है, तो भीतरमें एक द्वेषसा उत्पन्न हो जाता है ना । अनेकोंके तो भोजन करते बीच-बीचमें भी कितनी ही प्रकारके द्वेष उत्पन्न हो जाते, वे समझमें ही नहीं आते । तो किसी भी विषय उपभोगके मार्गसे रागादिक दोषोंका लगाव रहता है ।

वैषयिक सुखोंसे भावी दुःसह संकट—विषयोपभोगके मार्गमें अभी क्या, यह तो इस तरहका दुःख समझिये जैसे निकटसे कोई बड़ी भारी सेना निकल रही हो, लाखों पुरुषोंके सैनिकोंका समूह निकल रहा हो, तो उस निकलनेके कारण जो भयंकर धूल उड़ती है, चारों तरफ अंधेरासा छा जाता है वह तो अभी प्रागूरूप है, सेना अभी कहाँ आयी ? तो इसी तरह विषय उपभोगोंके मार्गमें जो लगाव होता है, उससे तो अभी बड़ी विपदावोंके अनुसार आयी हुई एक बड़ी विपदाके फलमें फंसाव है । इसका परिणाम तो आगे और दुःसह क्लेश मिलेगा । तो जो बंध हो रहा है आज, पुण्यकर्मके उदयसे जो विषयोंका उपभोग मिला है, उस उपभोगमें लगाव होनेसे जो आज बंध हो रहा है, यह बंध तो सेनाके निकलनेसे जो एक दुःसह धूल उठी है, उसका फंसाव है । इसके फलमें आगे और कठिन दुःख मिलेगा अर्थात् पुण्यके उदयमें पापका बंध किया, तो इस समय ज्यादा विपदा नहीं मालूम हुई । इस समय जो रागादिक दोष किए जा रहे, क्षोभ हो रहा, विह्वलता हो रही, यह विपदा है । यह कोई स्पष्ट विपदा नहीं है, लेकिन आगामी कालमें जब तक इन बद्ध पापकर्मोंका उदय होगा तब अत्यंत विपदा आयगी । तो बंधका कारण बन जाना, यह मामूली विपदा नहीं है । जैसे इन्द्रियसुखके उपभोगमें ऐसा तीव्र बंध बन जाता है कि जिससे आगामी कालमें कठिन दुःख भोगना पड़ेगा,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वह इन्द्रियसुख क्या सुख है ?

विषम सुखकी दुःखरूपता—इस इंद्रियसुखमें ५वां ऐब यह बतला रहे हैं कि इन्द्रिय-सुख विषम है, कभी बढ़ता है, कभी घटता है, ऐसे इन इन्द्रियसुखोंमें नाना परिणमन चलते हैं। तो यह अत्यन्त एक विषम मार्ग है। कभी कोई मार्ग ऐसा मिल जाय कि कुछ चढ़ना पड़े, ऊपरसे कुछ उठा हुआ मार्ग हो, मान लो मील भर तक थोड़ा ऊंचा उठा हुआ है तो ऐसे मार्गमें चलनेपर उतनी विपदा नहीं आती, जितनी विपदा है तो सड़क बराबर, सम, किन्तु उस ही में ऊँचे नीचे चढ़ाव हों, वहाँपर चलनेमें बहुत कष्टका अनुभव होता है। यों ही किसी कर्मका स्पष्ट दुःख आ गया, अब उस दुःखकी परिस्थितिमें वह अपने मनको मजबूत बना सकता है, उस दुःखके सहनेकी शक्ति वह अपनेमें बना सकता है, पर यह सुख कभी घटे, कभी बढ़े, बीचमें दुःख आये, सुख आये। ऐसी जिन्दगीमें अपने चित्तकी ओरसे कोई व्यवस्था नहीं बन पाती। तो इन्द्रियसुख विषम हैं, वृद्धि हानिमें परिणत हैं, इसलिए अत्यंत विसंष्ठुल हो गए। तो ऐसे इन्द्रियसुख क्या सुख हैं, वे तो सब दुःख ही हैं।

पापवत् पुण्यकी दुःखसाधनताका निर्णय—तो जिस पुण्यके फलमें ऐसे दुःखरूप इंद्रियसुख मिलते हैं, इससे यह ही निर्णय करना कि पुण्य भी पापकी तरह दुःखका ही साधन है। जैसे पापके उदयमें स्पष्ट दुःख आता है, ऐसे ही पुण्यके उदयमें भी तृष्णा हुई, विषयप्रवृत्ति हुई, संतापका वेग हुआ, और उससे यह संक्लिष्ट होता है। तब तक संक्लेश होता है जब तक यह उपभोग करने वाला बरबाद न हो जाय। तो पुण्य भी पापकी तरह दुःखका साधन है, यह बात यहाँ सिद्ध हुई है। यह प्रकरण इसलिए कहा जा रहा है कि पुण्य पापका ख्याल छोड़कर आत्माके शुद्ध स्वरूपकी रुचि जगे।

अब तक शुभोपयोग, अशुभोपयोग; पुण्य, पाप तथा सुख, दुःखका जो वर्णन किया, उन परस्पर युगलमें कोई विशेषता नहीं है। ऐसा निश्चय करते हुए उपसंहार करते हैं।

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥७७॥

शुभोपयोग, अशुभोपयोग, सुख, दुःख, पुण्य व पापमें आत्मधर्मका अभाव—शुभोपयोग, अशुभोपयोगमें, सुख, दुःखमें, पुण्य, पापमें परस्पर वाञ्छनीय फर्क नहीं है। इस प्रकार जो प्राणी नहीं मानता है, वह मोहसे दबकर घोर संसारमें डोलता रहता है। कषायके मंद उदयके निमित्तसे होने वाले विकारका नाम शुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है, क्योंकि शुभोपयोग नैमित्तिक है। कषायके तीव्र उदयके निमित्तसे होने वाले विकारका नाम अशुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है, क्योंकि अशुभोपयोग नैमित्तिक है। स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु, प्रतिष्ठा आदिका आश्रय (विषय) करके होने वाले विकारका नाम अशुभोपयोग है, वह आत्मा

Version 1

का धर्म नहीं है, क्योंकि अशुभोपयोग पराश्रयज है। देवता, यति, गुरु, धर्मात्मा, दुःखी आदि का आश्रय (विषय) करके होने वाले विकारका नाम शुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है, क्योंकि शुभोपयोग पराश्रयज है। सदा एकसा न रहने वाला, अनुरागकी अनेक डिग्रियोंमें डोलने वाला विकार शुभोपयोग भी है और अशुभोपयोग भी, अतः दोनों आत्माका धर्म नहीं हैं, क्योंकि वे विषम हैं। अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्तमें परिवर्तनकर सहित होने वाले विकारका नाम शुभोपयोग और अशुभोपयोग है, वे दोनों आत्माका धर्म नही हैं, क्योंकि वे दोनों अनियत हैं। आत्माके सहज स्वभावके स्वाभाविक विकासके प्रतिकूल होने वाले विकार शुभोपयोग और अशुभोपयोग हैं, वे दोनों आत्माका धर्म नहीं हैं, क्योंकि स्वभावके प्रतिकूल होनेसे ये दोनों उपयोग अपवादिक विशिष्ट परिणाम हैं। प्रकृतिके उदयके बिना नहीं हो सकने वाले ये विकार शुभोपयोग व अशुभोपयोग हैं, यह आत्माका धर्म नहीं है, क्योंकि इनका केवल आत्मा स्वामी नहीं है अतः संयोगी भाव है। ज्ञाताद्रष्टा रहनेके अभावके प्रतिफलस्वरूप कलुषताकी रचनासे होने वाला विकार शुभोपयोग और अशुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है, क्योंकि ये कलुषतासे रचे गये होनेके कारण अशुचि हैं। स्वभावसे न होकर पूर्वमलिनताके उपादान एवं प्रकृतिके निमित्तको पाकर उत्पन्न होने वाला विकार शुभोपयोग व अशुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है, क्योंकि यह आत्माका आत्मा नहीं है, किन्तु जीव निबद्ध हैं और आत्माके स्वभावको घात करनेकी इनकी प्रकृति है। आकुलताके कारण आकुलित प्रवृत्ति रूप होने वाला विकार शुभोपयोग व अशुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है, क्योंकि ये उपयोग स्वयं दुःखस्वरूप हैं, दुःखके क्षणिक प्रतीकार मात्र हैं। कर्मके उदयकालमें होकर उदय टलनेपर नष्ट हो जाने वाला विकार शुभोपयोग व अशुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है, क्योंकि अपने क्षणके बाद नष्ट होने वाले ये खुदको ही बचा सकने वाले नहीं हैं और न आत्माको बचा सकने वाले हैं, अतः अशरण हैं। आगामीकालके लिये दुःखका आकुलताका बीज बो देने वाला विकार ही तो शुभोपयोग व अशुभोपयोग है, वह आत्माका धर्म नहीं है क्योंकि इनका फल भी दुःख है।

शुद्धोपयोगकी धर्मरूपता—शुभोपयोग व अशुभोपयोगमें अन्य भी अनेक कारणोंसे, युक्तियोंसे यह निःसंदेह सिद्ध है कि ये दोनों समान हैं अर्थात् अशुद्ध हैं, विकार हैं। किन्तु शुद्धोपयोग कार्यधर्म है क्योंकि शुद्धोपयोग किसी निमित्तको पाकर उत्पन्न नहीं होता है इस लिये अनैमित्तिक है, स्वतःसिद्ध होनेसे स्वाभाविक है, समस्त परिणमन समान होनेसे सम है, स्वके ही आश्रयसे स्वरूप रखनेसे स्वाश्रित है, समान परिणमनके विरुद्ध अन्य परिणमनकी संभावना न होनेसे नियत है, सामान्यस्वभावके अनुरूप परिणमन होनेसे अविशिष्ट है, किसी परद्रव्यके संपर्कमें न होनेसे असंयोगी भाव है, स्वभावसे ही उत्पन्न होनेसे आनन्दस्वरूप है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कलुषता रहित होनेसे अत्यन्त पवित्र है, शाश्वत आनन्दका कारण होनेसे व धाराका परिवर्तन न होनेसे शरणरूप है, इत्यादि स्वलक्षणोंसे देखलो भैया! शुद्धोपयोग ही उपादेय है। यहाँ भी उपादेयका जो विकल्प है वह शुभोपयोग है यह विकल्प हितरूप नहीं है। शुद्धोपयोग हितरूप है व आत्मधर्म है। देखिये—शुद्धोपयोग तो आत्माका कार्यधर्म है। कारणधर्म तो अनादि, अनन्त, अखण्ड, एकरूप, नियत, सामान्यरूप, स्वतःशुचि, सहजज्ञान आनन्द आदि के अभेदस्वरूप चैतन्यस्वभाव है, इसकी दृष्टि होनेपर कार्यधर्मका प्रवाह चल उठता है।

शुभोपयोग व अशुभोपयोगमें अशुद्धता—जिनकी शुभोपयोगमें रुचि है अथवा शुभोपयोग करते हुए परलक्ष्यमें ही वृत्ति है, उनकी विकारमें रुचि है और जिनकी विकारमें रुचि है, उनकी संसारमें रुचि है। जिनकी संसारमें रुचि है, उनका संसारगर्तमें ही भ्रमण रहेगा; क्योंकि यह आत्मा प्रभु है। उसके लिये यह कठिन बात नहीं, किन्तु सरल अथवा प्राकृतिक है कि जैसी रुचि करें, तैसा बन जाय।

देखो भैया! खूब निश्चय कर लो शुभोपयोग और अशुभोपयोगकी अशुद्धताका। यदि कुछ कसर हो तो और विचार करें। नहीं रही कसर! तो अच्छा अब उसी किस्मकी आगेकी बात सुनो—शुभोपयोग जब हुआ तब उसी समय पुण्यकर्मका बंध हो गया। यदि अशुभोपयोग करे तब····बतावो···हाँ; सीधी सी बात है–पापकर्मका बंध हो गया। यहाँ यह भाव न लाना कि अशुभोपयोगने पुण्यकर्मका बंध कर दिया और अशुभोपयोगने पापकर्मका बंध कर दिया। शुभोपयोग आदि चारों पर्यायें हैं। शुभोपयोग व अशुभोपयोग तो जीवद्रव्यकी पर्याय है और पुण्य पापकर्म पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्याय नहीं कर सकता, और कोई एक पर्याय दूसरी पर्यायको उत्पन्न नहीं कर सकता। परन्तु यह निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, जब शुभोपयोग रूप पर्याय आत्मामें होती है तब कर्मवर्गणावोंमें पुण्यप्रकृतिरूप पर्याय हो जाती है, और जब जीवमें अशुभोपयोग पर्याय होती है तब कर्मवर्गणावोंमें पाप प्रकृतिरूप पर्याय हो जाता है। अस्तु! अब प्रकृत बातपर आइये।

शुभकर्म व अशुभकर्मकी समानता—देखिये भैया! चाहे पुण्यकर्म हो या पापकर्म, दोनों समान हैं, उनमें यह छंटनी मत करो कि पुण्यकर्म आत्माका भला कर देगा। क्या करें? ज्ञानीके सातिशय पुण्यकर्म आया करते हैं, और यह बात तभी है, जब कि वह पुण्य चाहता नहीं है। यदि पुण्य चाहने लगे तो तभीसे सारा पटला बदल जाय, क्या-क्या हो जाय, मिथ्यात्व आ जाय, अशुभोपयोग हो जाय, पापकर्म बंध जाय, महासंक्लेश हो जाय। पुण्यकर्म और पापकर्म निश्चयतः दोनों समान हैं। द्रव्यकर्मकी अपेक्षा देखो तो दोनों अचेतन प्रकृति हैं। भावकर्मकी अपेक्षा देखो तो शुभपरिणाम और अशुभपरिणाम दोनों अज्ञानरूप हैं। फल की अपेक्षा देखो तो दोनोंका फल अध्यवसान है। और देखो भैया! पुण्यकर्म बंध गया तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अब क्या मिलेगा ? बतावो दो-एक हजार देवाङ्गनायें, सो क्या होगा ? यहाँ तो एक स्त्रीके कारण चैंथीमें बाल रहना कठिन हो रहा है, वहाँ क्या होगा ? मनाते फिरो और करते रहो विकल्प। पुण्यके उदयसे मनुष्य हुए तो वह पुण्य क्या करेगा ? उसके विपाककालमें मानो २–४ करोड़की सम्पदा मिल गई तो क्या होगा ? उसमें रम गये तो नर्कवास।

पुण्य और पापकी बेड़ी—पुण्यकर्म हो अथवा पापकर्म हो दोनों बंधन हैं, बेड़ियाँ हैं। सोनेकी बेड़ी हो तो वह भी कष्टके लिये है, यदि लोहेकी बेड़ी हो तो वह भी कष्टके लिये है। यह मुग्धप्राणियोंकी कल्पना है कि पुण्यकर्म भला है। पुण्यका कैसा ही उदय हो अथवा पुण्य भावकर्म किये जा रहे हों वहाँ पुण्यसे तो आत्माका घात समझना। हां यदि लाभ भी हो रहा है तो वह कारणसमयसारकी दृष्टिका फल जानना। व्रत नियम तपोंको भी धारण करें यदि पारिणामिक भावका परिचय नहीं है तो वह दुःखसे मुक्त होनेका पात्र नहीं है। उन क्रियावोंके आश्रयसे परिणामोंमें कुछ विशुद्धि हुई तो उसके निमित्तसे पुण्यकर्म बंध जाता। उस पुण्यके उदयमें क्या मिलेगा ? इन्द्रियसुख–बेवकूफीकी चाल। उस इन्द्रियसुखकी कहानी पहिले हो चुकी, पुनरपि संक्षेपसे विचार लो–वह इन्द्रियसुख पराधीन, अनेक बाधावोंसे सहित, नष्ट हो जाने वाला, बन्धका कारण और विषम है। ऐसा सुख क्या सुख है, वह तो दुःख ही है। तो अब बतलावो भैया ! पुण्यसे क्या मिला ? दुःख। अब पुण्य दुःखका साधन रहा या आनन्दका ? दुःखका रहा। तब जैसे पाप दुःखका कारण है, वैसे पुण्य भी दुःखका कारण है। इस तरह पापसे पुण्यमें क्या महत्त्वसाधक विशेषता आई ? नहीं आई ना। बस इसी कारण तो पुण्य और पाप समान हो गये। पुण्य पापसे रहित निर्विकार शुद्धोपयोग ही आत्मा को वास्तवमें शरण है।

सुख दुःखकी समानता—इसी प्रकार सुख दुःख भी समान ही हैं, क्योंकि पराधीन इन्द्रियसुख दुःख ही है। आत्मीय शाश्वत स्वाधीन आनन्द ही वास्तविक आनन्द है। इस तरह शुभोपयोग, अशुभोपयोग; पुण्य, पाप; सुख, दुःख ये सब बराबर हैं, इनसे आत्महित नहीं है। फिर भी जो प्राणी पुण्यको व शुभोपयोगको व इन्द्रियसुखको विशेष मानकर अहंकार करे और इसी कारण अहमिन्द्र आदि बड़ी संपदावोंके कारणभूत धर्मानुरागरूप शुभोपयोगकी हठ करे तो संसारपर्यन्त शारीरिक दुःखका ही अनुभव करेगा, क्योंकि उसका उपयोग अशुद्ध है। इसी कारण शुद्धोपयोगका तिरस्कार कर दिया है।

शान्तिका यत्न—भैया ! शांति धर्मसे आती है, धर्म आत्मस्वभावके लक्ष्य होनेपर सहज प्रकट होगा, अतः मनुष्यजीवनको सफल करें, निर्ममत्व बढ़ाकर व अपने स्वभावकी ओर रहकर। ऐसा जिन्होंने किया, वे सुखी हो गये, जो कर रहे हैं, वे सुखी हो रहे हैं, जो करेंगे वे सुखी होंगे। कर्तव्य एक यही है—शुभोपयोग व अशुभोपयोग दोनोंमें अविशेषता देखकर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इनसे मुड़ते हुए वस्तुस्वरूपको पहिचानो। मैं निज चैतन्यस्वरूपमात्र हूं, ऐसी प्रतीति करके समस्त द्रव्य पर्यायोंमें रागद्वेषको छोड़ो, अपनेको एक यह शुद्धोपयोग ही शरण है। इसमें ही सहज शान्ति है।

शुभोपयोग और अशुभोपयोगकी अविशेषताके निर्णायकोंकी परद्रव्यसे उपेक्षा—लौकिक पुरुषोंकी दिमागी और दिली प्रवृत्ति जिस मायाजालमें है, जगतका यह सब मायाजाल इन ६ बातोंमें मिलेगा। सुख, दुःख, पुण्य, पाप, शुभोपयोग और अशुभोपयोग। दुःख तो जो आर्तध्यानसे होता है, इष्टका वियोग हो, अनिष्टका संयोग हो, शारीरिक वेदनाएँ हों और वैभव सुखके निदान बाँधे, इच्छायें करें, ये तो सब प्रकट ही दुःख हैं, किन्तु इन्द्रियजन्य सुख भी दुःख ही हैं, क्योंकि वे पराधीन हैं। उसमें दुःख भरे हुए हैं, तो ज्ञानियोंकी दृष्टिसे इन्द्रियजन्य सुख और दुःख दोनों बराबर रहते हैं। इन्द्रियजन्य सुखको महत्त्व नहीं दिया, इतना ही नहीं, किन्तु हेय भी कहते हैं। इतना तो पूर्ण निश्चित है, और सुगमतया विदित हो जाता है कि इन्द्रियजन्य सुख और दुःख दोनों एक समान हैं। शांति और आनंद इनमें कहीं नहीं है। अब यह बतलावो कि इन्द्रियजन्य सुख मिलता है पुण्यके उदयसे और दुःख मिलता है पापके उदय से। जब सुख और दुःख दोनों बराबर हैं तो इनका कारण भी समान होना चाहिए, तो पुण्य और पाप ये दोनों एक समान हैं। जब पुण्य और पाप समान हैं तो पुण्य और पापके बंधका जो कारण है, वह भी समान होना चाहिए। पुण्यका कारण है शुभोपयोग और पापका कारण है अशुभोपयोग। तो ज्ञानी संतोंकी दृष्टिमें, जिन्हें कैवल्य ही रुच रहा है, उनकी दृष्टिमें शुभोपयोग और अशुभोपयोगमें कोई भी भला नहीं जंचता है। जिन्होंने शुभोपयोग और अशुभोपयोगकी समानताका निर्बाध किया है, ऐसे योगी संत सब प्रकारके रागद्वेषके द्वैतोंको दूर करते हैं, हटाते हैं, ग्रहण नहीं करते हैं, उन्हें अपहस्तित करते हैं।

रागद्वेषका अपहस्तयन व शुद्धोपयोगमें अधिवसनके वर्णनका संकल्प—जैसे पहिले हस्तमें कोई चीज लिए हो और मालूम पड़ जाय कि यह तो न कुछ चीज है तो वह यों फेंक देता है जैसे कोई काँचका टुकड़ा गोलमटोल पड़ा हो, चमकदार लग रहा हो, और उसे हीरा समझकर कोई उठा ले, पर ज्यों ही देखा कि यह तो काँच है, तो जैसे झटककर देता है ऐसे ही अज्ञान अवस्थामें इन रागद्वेषोंसे अपना भला मानकर यह पुरुष रागद्वेषोंको ग्रहण किए हुए था। जब यह ज्ञात हुआ कि समस्त संकटोंकी जड़ तो ये रागद्वेष ही हैं, तो उन रागद्वेषों को झटककर फेंक देता है। यों यह ज्ञानी पुरुष सर्व प्रकारके राग और द्वेषोंको दूर करता हुआ अब समस्त दुःखोंके क्षयके लिए अपना मन बना लेता है। बस मुझे संसारमें कुछ नहीं चाहिए, सब समझ लिया कि सभी पदार्थ भिन्न हैं, अहित हैं, उनमें मेरा कुछ करतब नहीं है, सब दुःखरूप हैं। संसारमें जन्म मरण करानेके ही कारण हैं, इस कारण मेरा अब किसी भी

Version 1

परपदार्थमें मन नहीं रहा। यों समस्त दुःखोंके क्षयके लिए अपना मन जिसने बनाया है, ऐसा ज्ञानी पुरुष अब शुद्धोपयोगमें बसना चाह रहा है। आचार्यदेव अब ७८वीं गाथा कहेंगे, उसकी उत्थानिकामें यह कह रहे हैं कि यह ज्ञानी अपने मनके, संसारके संकटक्षयके लिए निश्चित करता हुआ शुद्धोपयोगमें ठहर रहा है अर्थात् शुद्धोपयोगसे लाभ है। ऐसी शुद्धोपयोगपर दृष्टि दिलानेके लिए अब यह गाथा कही जा रही है।

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥७८॥

तत्त्ववेत्ताकी रागद्वेषसे विविक्तता—जिन्होंने सही तौरसे अर्थका परिज्ञान कर लिया है, पदार्थका क्या स्वरूप है और उन पदार्थोंके आकर्षणमें इस जीवको क्या हुआ करता है? यह सब जिन्होंने विदित कर लिया है, वे पुरुष सभी प्रकारके द्रव्योंमें राग और द्वेषको प्राप्त नहीं होते हैं। वे किसी भी द्रव्यमें न राग करते हैं और न द्वेष करते हैं, जब यह जान लिया कि इस मेरे आत्माका केवल मेरा आत्मा ही शरण है, यह अकेला ही तो जन्म लेता है, अकेला मरण करता है, सुख दुःख भी अकेला ही भोगता है। सर्व प्रकारके परिणामोंको यह अकेला ही करता है, इसका दूसरा कुछ नहीं है, दूसरे पदार्थके प्रसंगसे इन्द्रियजन्य सुख, मानसिक सुख अथवा इन्द्रियज दुःख व मानसिक दुःख उत्पन्न होता है, ये पंचेन्द्रियके सुख इस संसारमें ही भटकाने वाले हैं। मुझे इनसे प्रयोजन नहीं रहा, जिनको यह निर्णय हो गया कि मुझे अब विषयसेवनका प्रयोजन नहीं रहा, तो उसे विषयके साधनभूत पदार्थोंका भी प्रयोजन नहीं रहता। ये जगतके समस्त बाह्य पदार्थ विषयके साधनभूत ही तो हैं, जिन्हें सम्यग्ज्ञानका उदय हुआ है, उन्हें संसारके इन पदार्थोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहा। उनसे वे रागद्वेष भी नहीं करते। जिन्होंने सुख दुःखको बराबर समझकर, सुख दुःखके कारणोंको समान जानकर, पुण्य पापके कारणोंको समान जानकर, शुभोपयोग अशुभोपयोगको समान जानकर उन्हें छोड़ा है, वे पुरुष उनमें न राग करते हैं और न द्वेष करते हैं।

समस्त द्रव्योंकी स्वपरविभागमें अवस्थितता—समस्त द्रव्य हैं कितने? तो प्रयोजन की दृष्टिसे इनके दो भेद कर लें—एक स्व और एक पर। स्वमें तो केवल एक अपना आत्मा आया और परमें अपने आत्माको छोड़कर बाकी अनन्तानंत आत्मा और सारे पुद्गल-द्रव्य, धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्यात कालद्रव्य—ये समस्त परपदार्थ हैं और एक अपने आपके चतुष्टयमें विराजमान निज तत्त्व स्व है। इस तरह स्व और परके रूपमें अवस्थित समस्त द्रव्य पर्यायोंमें ज्ञानी पुरुष राग और द्वेषको छोड़ देते हैं।

जिन्होंने सर्व पदार्थोंमें राग और द्वेषको छोड़ दिया, वे नियमसे विशुद्ध उपयोग वाले

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होते हैं। परपदार्थोंमें तो रागद्वेष होता ही है, यह स्पष्ट है, पर अपने आपको भी यदि सही रूपमें निर्णय न किया जाय तो अपने आपपर भी राग और द्वेष होता है। जैसे कभी अपनी करतूतसे अपनेको ही नुक्सान पहुंचे तो अपने आपपर क्रोध आता है। जैसे किसी पुरुषने १० हजार रुपयेका नुक्सान कर दिया तो हम उस पुरुषपर क्रोध करते हैं, और खुद ही से १० हजार रुपये गिर गए तो खुदपर भी क्रोध करते हैं। तो जब अपने आपका सही निर्णय नहीं होता तो अपने आपपर भी राग और द्वेष करते हैं। अपने आपकी करतूत अपनेको चतुराई भरी लगे, यह अपने आपपर राग करना ही तो हुआ, और अपने आपके करतबसे विषयसाधनों को नुक्सान पड़े तो यह अपने आपपर द्वेष करता है। तो यों स्व और परके विभागरूपसे सारे द्रव्योंकी गुणपर्यायोंमें यह ज्ञानी पुरुष रागद्वेष नहीं करता, क्योंकि यह वस्तुस्वरूपकी सही दृष्टिमें है।

रागद्वेषसे दूर होनेका चिन्तन—घरके कुटुम्बियोंपर क्या राग करना, ये भी वैसे ही जीव हैं जैसे जगतके अनन्त जीव हैं। जितने भिन्न अनन्तानन्त जीव हैं उतने ही भिन्न वे कुटुम्बी जन हैं। राग करनेका क्या अवसर? जितने भी सुख दुःख आनन्द ज्ञान जो कुछ भी परिणमन होते हैं वे मेरे ही परिणमनसे होते हैं, कोई दूसरा मेरे सुखरूप परिणमन कर मुझे सुखी करता हो, ऐसा तो है ही नहीं। फिर राग किसपर करना? ज्ञानी संत यों विचारता है कि जगतमें किस पदार्थपर द्वेष करना? किसीने गाली दिया, मेरे प्रतिकूल व्यवहार किया, तो उसने मेरा क्या किया? मैं तो सबसे न्यारा विशुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र हूं, मुझे तो कोई दूसरा जीव पहिचानता भी नहीं है कि मैं क्या हूं? मैं एक विशुद्ध ज्ञानपुञ्ज हूं, जिसमें न किसी अग्निका प्रवेश है, न जलका प्रवेश है, न कोई इसे पीट सकता है, न छेद सकता है, न भेद सकता है। आकाशवत् निर्लेप ज्ञानपुञ्ज मैं हूं। इस ज्ञानपुञ्ज आत्माको कोई दूसरे लोग जानते ही नहीं हैं। फिर कोई मुझे गाली क्या देगा?

अज्ञानीके वचनोंका क्या बुरा मानना—किसीने बुरा कह दिया, तो उसने मेरा क्या किया? उसके अंतरङ्गमें अज्ञान बसा हुआ है, सो उसने अज्ञानसे प्रेरित होकर अज्ञानभरी चेष्टा की है। और क्या किया है? अज्ञानीकी चेष्टापर क्या बुरा मानना? जैसे रास्ता चलते हुएमें कोई पागल गाली दे दे तो उस पागलकी बातपर कोई बुरा मानता है क्या? जिसे मालूम हो कि यह पागल है, वह तो उसकी बातपर हँसता है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव यदि बुरा कहते हैं, निन्दा करते हैं, तो उनसे द्वेष करनेका क्या? काम अरे वे तो खुद दुःखी हैं, दयाके पात्र हैं, उनकी बुद्धि बिगड़ गयी है, इस कारण वे खुद अपने प्रभुको बरबाद कर रहे हैं, उनपर क्या द्वेष करना?

ज्ञानीको उपयोगविशुद्धिका परिणाम—ज्ञानी पुरुष सही स्वरूपका जाननहार है, इस

Version 1

कारण वह न किसीसे राग करता है और न द्वेष करता है। जब किसीपर रागद्वेष नहीं रहा तो इसका उपयोग विशुद्ध हो गया, अब परद्रव्यका आलम्बन लेनेका परित्याग कर दिया। उपयोग अब किसी परपदार्थमें नहीं टिकता। वह नियमसे उपयोग विशुद्ध होनेके कारण, सर्व परद्रव्योंसे विविक्त रहनेके कारण अब यह सांसारिक दुःखोंको भी नहीं सहता। अग्नि कब तक पिटती है? जब तक अग्नि लोहेके पिण्डमें प्रवेश किए रहती है। अर्थात् लोहेको गर्म करके लोहा पीटते हैं, तो उसमें अग्नि भी पिटती है। अग्नि तो निर्दोष है, क्यों वह पिटती है? अरे निर्दोष तो जरूर है, मगर इसने इस दोषी लोहेमें तो प्रवेश किया है, इसलिए अग्नि भी पिटती है। यदि अग्नि लोहपिण्डको ग्रहण न करती, न्यारी बनी रहती तो अग्निपर घन न चलते। ऐसे ही यह आत्मा जब तक शरीरके रग रगमें एक क्षेत्रावगाही बन बनकर ममत्वमें रच पचकर रह रहा है तब तक यह आत्मा शारीरिक दुःखोंके घनोंसे पिटता है। यदि यह आत्मा अपने ज्ञानोपयोगसे शरीरको ग्रहण न करे अर्थात् शरीरसे न्यारे ज्ञानपुञ्ज मात्र अपने आपको निहारे, ऐसा ही श्रद्धान बनाए और ऐसा ही अपना उपयोग स्थिर करे तो इसके सांसारिक दुःख छूटें, घनघात फिर इसपर न पड़ेंगे।

ज्ञानीका शुद्धोपयोगमें अधिवसन—भैया! सच जानो कि जितने भी क्लेश हैं, वे अशुद्धोपयोगके कारण हैं। अशुद्धोपयोगमें अशुभोपयोग तो है ही, शुभोपयोग भी आ गया। उन अशुद्धोपयोगोंसे मेरा कुछ हित नहीं है। मेरा तो केवल एक यह शुद्धोपयोग ही शरण है। ऐसा यह अध्यात्मयोगी संत निर्णय कर रहा है कि मेरा शरण केवल शुद्धोपयोग ही है और वह शुद्धोपयोगके ही बसानेका यत्न करता है। संसारके समस्त पदार्थ मेरे जाननमें आयें तो आयें, किन्तु किसी भी पदार्थके सम्बन्धमें राग और द्वेषकी कल्पना मेरेमें न जगे। सभी पदार्थ मेरेसे न्यारे हैं। किसी पदार्थमें मेरा हित नहीं है, मेरा सम्बन्ध नहीं है। मैं सब से न्यारा केवल अपने आपके स्वरूपमें परिणमता रहता बना रहता हूँ। यों सभी पदार्थोंसे विविक्त अपने आपको देखकर यह ज्ञानी पुरुष शुद्धोपयोगमें ही बस रहा है।

ज्ञानीका शुद्धोपयोगमें अधिवासका दृढ़ निश्चय—इस ज्ञानी पुरुषने सर्व प्रकारके पापों का परित्याग कर दिया। बाह्यमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये तो पाप हैं ही, इनका तो त्याग किया ही है, किन्तु परद्रव्योंमें अपना आकर्षण करना, उनमें हित मानना, उनकी ओर रहना, उनमें द्वेष करना ये भी पाप हैं। इन पापोंको भी जिन्होंने छोड़ दिया है और आत्माके शुद्ध चारित्रको ग्रहण किया है, ऐसा अब यह ज्ञानी है, फिर भी यह विचार कर रहा है कि मैंने चारित्रको ग्रहण तो किया है, लेकिन यदि मैं शुभोपयोगके बहकावेमें आ जाऊँ, शुभोपयोगमें ही अपना उपयोग फँसा लूं और मोहादिकका उन्मूलन न करूँ तो मुझे फिर इस शुद्ध आत्माका लाभ कैसे हो सकता है? इस ज्ञानी संतने शुद्ध आत्माका श्रद्धान किया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। उस शुद्ध आत्माके अनुभवमें जो आनन्द पाया है, उस आनन्दके बाद कुछ थोड़ा बाहरमें देखते हैं शुद्ध अनुभवमें न टिकनेके कारण तो इस प्रकार देखते हैं कि अरे मैं कहाँ देखने लगा ? अपने आपके इस शुद्ध स्वरूपको छोड़ दूँ, तो फिर मुझे यह शुद्ध आनन्द कैसे मिल सकेगा ? मुझे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति न हो सकेगी। इस कारण अब मैं सर्व प्रकारके पुरुषार्थों से अपने आपके शुद्धोपयोगमें ही ठहरनेकी तैयारी करके खड़ा हुआ हूं। इस प्रकार भावना करते हुए ज्ञानी पुरुष शुद्धोपयोगके लिए उद्यत रहते हैं अर्थात् इस प्रकारके भावोंको अब आचार्यदेव अगली गाथामें कह रहे हैं।

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥७९॥

चारित्रके शैथिल्यका परिणाम—सर्व प्रकारके पाप आरम्भोंको छोड़कर वे यदि शुभोपयोगकी चर्यामें विहारकर मोहादिकका परित्याग नहीं करते हैं कोई तो वे पुरुष इस शुद्ध आत्माको कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? जिन पुरुषोंने समस्त पाप योगोंका प्रत्याख्यान किया, ये समस्त विकल्प औपाधिक हैं, विनाशीक हैं, दुःखरूप हैं, मेरेसे भिन्न हैं, ऐसा निर्णय करके जिन्होंने परद्रव्योंमें प्रवर्तन करनेरूप सर्व प्रकारके पापोंका परित्याग कर दिया है और परम समता नामक चारित्रकी प्रतिज्ञा की है, मैं राग द्वेषोंको छोड़कर एक शुद्ध ज्ञायकस्वभावके अनुभवनमें रहूंगा, ऐसा जिन्होंने दृढ़ संकल्प किया है, फिर भी जैसे अभिसारिका अनेक पुरुषों को अपने कटाक्षोंसे राग भरी बातोंसे अपनी ओर आकर्षण किया करती है, इस प्रकार शुभोपयोगकी वृत्तिके द्वारा यदि मैं आकर्षित हो गया और मोहसेनाको मैं नष्ट न कर सका, तो समझ लेना चाहिए कि अब महान दुःख संकटोंको प्राप्त होऊँगा। फिर मैं इस निर्बाध निष्कलङ्क शुद्ध आत्माको कैसे प्राप्त कर सकूँगा ?

स्वरूपसे च्युत न होनेकी भावना—एक विशुद्ध आनंदका अनुभव प्राप्त करनेके बाद यह ज्ञानी पुरुष उस आनंदस्वरूप अपने आत्मासे चिगनेमें महान खेद प्रदर्शित करता है। मुझे न चाहिए अन्य कुछ विषयसाधन, सांसारिक सुख। मुझे तो यही आनंद चाहिये, जो अपने आपमें बसनेका एक अलौकिक आनन्द प्राप्त हुआ है, जो संसारके बड़े-बड़े समस्त महापुरुषों और इन्द्रोंके सुखको भी जोड़ लिया जाय तो भी हमारे इस आनन्दका अनन्तवां भाग भी नहीं है। ऐसी अद्भुत परमनिराकुलताको प्राप्त कर लेने वाला संत अब अपने स्वरूपसे चिगना नहीं चाहता। जिस दृष्टिसे इसे अपने आपमें ज्ञानप्रकाश नजर आये, और उस ज्ञानप्रकाशका निर्विकल्प अनुभव करके जो आनन्द प्राप्त कर लिया जाय, बस वैसे ही आनन्दकी यह कोशिश करता है, सर्व आरम्भ पूर्वक इस ही आत्मानुभवके लिए उद्यत करता है।

मोहवाहिनीके विजयका उत्साह—स्वरूपाचरणमें यदि कुछ भी शिथिलता हो गयी

Version 1

तो शिथिलताके बाद खोटे परिणाम होंगे। शिथिलतामें शिथिलता बढ़-बढ़कर फिर संसारकी इन शिथिलतावों और विकल्पोंमें भ्रमण करना पड़ेगा, इस कारण मैं अपनेमें शिथिलता न करूँगा। इस मोहरूपी सेनापर विजयके लिए अब मैंने अपनी कक्षा बाँधी है। जैसे कोई दो पुरुष परस्परमें लड़ जायें जो कि धोती पहिने हों। धोती तो नीचे तक रहती है, तो उसे उसकेरते हैं, एक लंगोटकी तरह उस समस्त धोतीको समेटते हैं, तब लड़ते हैं। अगर धोती ढीली रहे तो लड़ना कैसे बन सकता है? लड़ते-लड़ते बीचमें कुछ शिथिलतासी आ गयी तो अपनी कांखको बाँधकर फिर लड़नेको तैयार होते हैं। तो ऐसे ही एक दृष्टान्तकी झांकी सहित आचार्यदेव कह रहे हैं कि यदि इस चारित्रको प्राप्त करके मैं ज़रा भी शिथिल होऊँ तो बस शिथिल होनेके मायने यह हैं कि फिर गिर जाऊँगा। तो ऐसा मैं न करूँगा। इस मोहरूपी सेनापर विजयके लिए मैं अब तैयार हो गया हूं। इस प्रकार सर्व पुरुषार्थ पूर्वक ज्ञानी पुरुष रागद्वेष मोहका क्षपण करता है।

जैनशासनके लाभसे आत्मलाभ उठानेका अनुरोध—आज हम आप लोगोंने जैनशासन पाया है, पर शांतिलाभके लिए जैसे लोग यह विचार किया करते हैं कि हमको वैभव इतना मिला, इतना और मिले, कैसे मिले? जैसे इन बातोंमें चित्त डालते हैं, क्या कभी ऐसा भी विचार किया कि मेरे सारे दुःखोंकी जड़ तो मोह रागद्वेष है? मुझे शांति चाहिए, मैंने मोह रागद्वेषको कितना कम किया, जिन्दगीके अनेक वर्ष गुजर गए, अब मरणके निकट ही पहुंचने वाले हैं, क्या कभी इस बातपर ध्यान दिया कि मेरे मोह रागद्वेष कम हुए हैं? जैनशासन पाने का फल तो यही है कि यह चिंतना करें कि मेरे रागद्वेष मोह कम हों। मेरे ये साधन कम हैं, यह चीज नहीं है, इसको पूरा करना है, यह तो सोचते-सोचते जिन्दगी गुजर गयी, पर मेरेमें रागद्वेष मोह ये कम हुए या नहीं, इसपर कभी विचार नहीं किया। अगर रागद्वेष मोह कम न हुए तो समझो कि यह जीवन यों ही व्यर्थमें व्यतीत हो गया। पापकलङ्कोंसे मलिन होता हुआ अगर मरण कर गया तो अगले भवमें भी ये सब पापकलंक ढोते रहने पड़ेंगे। तो मोह रागद्वेषके दूर करनेका कुछ न कुछ हिसाब देखते ही रहना चाहिए। सो भैया! विवेक तो यह है कि हम हर सम्भव उपायोंसे मोह रागद्वेषका विनाश करें।

कल यह प्रकरण था कि जो जीव अहिंसात्मक परमसामायिक चारित्रकी प्रतिज्ञा करके भी शुभोपयोगकी वृत्तिरूप अभिसारिकासे ठगाया हुआ मोह व अज्ञानको नहीं छोड़े तो वह बड़े दुःखसंकटोंमें घिर जायगा। फिर कैसे वह आत्माकी उपलब्धि करेगा? यह बात अपने आपके सम्बंधमें भी विचारो। सो अब भैया! मोहकी सेनाको जीतनेके लिये कमर कस ही लो।

अब कहते हैं कि मेरे द्वारा मोहसेना कैसे जीती जायगी? उस उपायकी आलोचना करते हैं अर्थात् मोहविजयके उपायभूत तत्त्वज्ञानको अपनेमें चारों ओर देखकर जिज्ञासुके प्रति

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कहते हैं—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

प्रभुस्वरूपके परिचयमें आत्मस्वरूपका परिचय—जो अरहंतदेवको द्रव्यत्व गुणत्व पर्यायत्व इन तत्त्वोंसे जानता है, वह निज आत्माको जानता है, क्योंकि निश्चयदृष्टिसे शुद्ध आत्मामें और निजमें अन्तर नहीं है। निरुपाधि स्वतंत्र निज आत्मतत्त्वको पहिचानने वाले अन्तरात्माके मोह लयको प्राप्त होता है। शुद्ध आत्माके स्वरूपमें और निज आत्माके स्वभावमें अंतर न होनेसे शुद्ध आत्माकी पहिचानसे जैसे निज आत्माकी पहिचान होती है, वैसे ही निज आत्मस्वभावकी पहिचानसे शुद्ध आत्माकी पहिचान होती है तथा स्पष्टतया निज आत्मस्वभाव की पहिचानके बलसे शुद्ध आत्माकी पहिचान स्पष्ट होती है। शुद्ध आत्माके परिज्ञानके समय भी निज आत्माके ज्ञानगुणकी परिणतिका ही अनुभव है। अतः यद्यपि तत्त्वतः निज आत्माके स्वभावकी परखसे शुद्धात्माकी परख हुई है तथापि उसका विषय प्रथम शुद्धात्मारूप परपदार्थ होनेसे संस्कारवश यही उपाय प्रथम आता है कि जो अरहंतको द्रव्यत्व गुणत्व पर्यायत्वसे जानता है, वह आत्माको जानता है।

द्रव्यत्व, गुणत्व व पर्यायसे प्रभुका स्वरूप—अब द्रव्यत्व, गुण व पर्यायसे अरहंत का क्या स्वरूप है ? इसका वर्णन करते हैं। प्रथम यह जान लेना चाहिये कि द्रव्य, गुण, पदार्थ क्या हैं ? जो अन्वयस्वरूप है, तीनो कालोंमें प्रत्येक परिणमनोमें जिसका प्रवाह है, ऐसा अखंड एक वस्तु द्रव्य है और उस अन्वयीके विशेषण (शक्तियाँ) गुण हैं और द्रव्यकी प्रतिसमयकी दशामें पर्याय हैं। अब भगवान अरहंतमें (जो कि द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे सभी दृष्टियोंसे शुद्ध हैं) द्रव्यत्व, गुण व पर्यायको देखते हैं—यह चेतन है, यह अचेतन है—इस प्रकार जिस एकका अन्वय है, वह द्रव्य है, और जो अन्वयस्वरूप चेतन द्रव्य है, उसके आश्रित जो विशेषण हैं, चैतन्य है, वह गुण है। यह गुण सर्वगुणोंमें प्रधान अर्थात् द्रव्यकी विशिष्ट स्वरूप सत्ताका मूल होनेसे प्रधानदृष्टिसे विवेचित है। विशेषतया तो चेतन द्रव्यमें अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनेक सामान्यगुण एवं चेतनत्व अमूर्तत्व आदि अनेक विशेषगुण हैं तथा पर्याय एक-एक समय मात्र जिनका काल सुनिश्चित है, अतएव जो परस्पर एक दूसरेसे भिन्न हैं, चेतन वस्तुकी ही परिणतियाँ हैं, वे सब पर्याय हैं।

द्रव्य और गुणकी दृष्टिसे आत्मा व परमात्मामें अन्तरका अभाव—यहाँ द्रव्य और गुणदृष्टिसे निज आत्मा व विशुद्ध आत्मामें कोई भी अन्तर नहीं है, मात्र पर्यायदृष्टिसे अन्तर है। भगवान अरहंतका पर्याय सोलहबानसे तपाये गये सुवर्णके सदृश पूर्ण निर्मल है, किन्तु कर्मफलमें जुड़ जानेके उपयोगके कारण हम संसारियोंका पर्याय समल है। यहाँ अरहंत भग-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वानके द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्वके जानने वाले आत्माको ज्ञाता होना कहा है, क्योंकि अरहंत भगवानका गुणपर्याय भी अत्यंत निर्मल है। अतः पर्यायका गुणोंमें अभेदरूपसे समझमें आना सुकर है। वैसे तो यथार्थतया किसी भी आत्माको द्रव्यत्व, गुणत्व पर्यायसे जाननेसे पर्यायके अभेदगत गुण और गुणके अभेदगत आत्मतत्त्वका ज्ञान हो लेता है, परन्तु जहाँ द्रव्यस्वभावके प्रतिकूल पर्यायें होती हैं वहाँ पर्यायोंका अभेदीकरण सुकर नहीं है। जिस प्रकार दर्पणमें निजी स्वच्छता भी होती है, उसमें परपदार्थ रक्तपट आदिको निमित्त करके जो छाया परिणति होती है, उस परिणतिका उपादान दर्पणकी निरुपाधि स्वच्छता है, किन्तु रक्तच्छायापरिणतिको उसकी स्रोतभूत स्वच्छतामें अभेद करना दुष्कर होता है तथा यदि रक्तपट आदि प्रतिकूल निमित्तके अभावसे दर्पणकी स्वच्छतापर स्वच्छ छाया भी रहती है। उस स्वच्छ छायाका उसकी स्रोतभूत निजी स्वच्छतामें अभेदीकरण सुकर होता है। उसी प्रकार आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण होते हैं। उसमें परपदार्थ कर्मको निमित्तमात्र करके जो विकृति होती है, उस विकृतिका उपादान तात्कालिक योग्यतासंपन्न दर्शन, ज्ञान, चारित्र है, किन्तु विकृतिको उसकी स्रोतभूत दर्शनादिमें अभेद करना दुष्कर है तथा यदि मोहनीयादि प्रतिकूल निमित्तोंके अभावमें आत्माके दर्शनादि गुणोंकी स्वभावपरिणति होती है, उस स्वाभावपरिणतिको उसके स्रोतभूत दर्शनादि गुणोंमें अभेद करना सुकर होता है और समस्त गुणोंका एक प्रधान भावमें अभेद एवं स्वभावका स्वभाववानमें अभेद सुकर है। जो इस प्रकार भेदोंको संक्षिप्त करके अभेदस्वभावमें पहुंच जाता है, वह निरपेक्ष यथार्थ स्वतंत्र आत्माको जानता है और उसका मोह लयको प्राप्त हो जाता है।

प्रभुमिलनसे मोहक्षय—यहाँ मोहके क्षयकी बात कही जा रही है। यद्यपि इस कालमें मोहका उपशम, क्षयोपशम तो हो लेता है, क्षय नहीं होता है तथापि चैतन्यस्वभावीकी प्रबल श्रद्धासे सम्यक्त्वका ऐसा प्रवाह हो लेता है कि जब तक मोह क्षयको प्राप्त न हो जाय, अंतर नहीं पड़ता। यह बात तो यहाँ अब भी हो ही सकती है। जो अरहंतको द्रव्य, गुण, पर्यायसे जानता है, वह आत्माको जानता है, क्योंकि यथा द्रव्य, गुण, पर्यायशक्ति अरहंत भगवानकी है तथैव द्रव्य, गुण, पर्यायशक्ति मेरी है—यह दृढ़तम विश्वास है, क्योंकि उसने अपने आपका अपने स्वभावसे विश्वास किया है। वर्तमानमें जो क्षणिक विकार हो रहे हैं, जिनसे कि हममें और अरहंतमें अंतर हो गया है। वे मेरे स्वरूप नहीं हैं, होते हैं, परन्तु ज्ञानी अंतरंगसे तो उनका ज्ञातामात्र है। जो आत्मस्वरूपको जानते हैं व प्रभुस्वरूपसे मिलान करके आत्मस्वरूपका दृढ़ और विशद निर्णय रखते हैं, उनका मोह क्षयको प्राप्त हो जाता है।

आत्मोद्धारका स्वाधीन मार्ग—अहो! आत्मोद्धारका मार्ग कितना स्वाधीन है? आत्मोद्धारका उपाय सम्यग्ज्ञान है। इसमें किसी भी परवस्तुकी अपेक्षा प्रतीक्षा, आधीनताकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बात कही गई है। निजस्वभावकी कारणता ही सर्वदशाओंमें मोक्षका मार्ग है। निज स्वभाव अरहंत भगवानसे हीन नहीं है। जैसा अरहंत भगवानका स्वरूप है, वैसा ही मेरा स्वभाव है। परिणमनमें जैसे अरहंत प्रभु हैं, वैसा मैं भी अवश्य हो सकता हूं। स्वभावप्रतीति वालेके इस जोड़में कालके अंतरकी खबर भी नहीं है। अतः वर्तमानमें ही वह प्रभुमें अद्वैत हो रहा है। जहाँ पर्यायोंको गुणमें गुणको गुणीमें अभेद करके द्रव्यकी प्रतीति हुई तो उस प्रतीतिके फलस्वरूप "कारणसदृशं कार्यम्" इस न्यायके अनुसार लक्ष्यके विषयभूत अखंड चैतन्यस्वभावको कारणरूपसे उपादान करके परिपूर्ण स्वभावका विकास हो जाता है। इसी दशाको जब तक शरीरका एक क्षेत्रावगाह रहता है अरहंत कहते हैं। जैसे अरहंतको द्रव्य, गुण, पर्यायसे परखने पर निज स्वभावकी प्रतीति होती है, वैसे सिद्ध प्रभुको द्रव्य, गुण, पर्यायसे परखनेपर भी आत्मज्ञान होता है तथापि यहाँ अरहंत देवको दृष्टान्तमें रखनेका मात्र प्रयोजन इतना ही है कि पहिले साकार अर्थात् सकलपरमात्मामें द्रव्य, गुण, पर्यायको परखनेकी हम साकार सकल आत्मावोंको विशेष सामञ्जसता प्राप्त होती है एवं इस मनुष्यलोकमें विराजमान शुद्ध आत्मा अरहंतदेव ही हैं।

अरहंत देवके द्रव्य, गुण, पर्यायकी जो पद्धति है, वही मेरी है। जैसे अरहंत देवके द्रव्यस्वभावमें से पर्यायें प्रकट हुई हैं, होती हैं, वैसे ही हमारे द्रव्यस्वभावमें से ही पर्यायें प्रकट होती हैं। अरहंत दशा भी मेरी मेरे द्रव्यस्वभावमें से ही प्रकट होगी। इस प्रतीति वालेको बाहर कुछ करना नहीं रह जाता (करना तो किसीको भी बाहरमें कुछ नहीं होता, मात्र करनेका विकल्प ही मुग्धके होता है) मात्र निज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि ही करनेको होती है। यह दृष्टि स्वयंकी परिणति है, इसका विषय भी स्वयं है, अतः यह कार्य अत्यंत स्वाधीन है।

अन्तस्तत्त्वकी परिपूर्णता—मेरा आत्मा परिपूर्ण है, विकार भी है। वहाँ भी परिपूर्ण व अधूरा कभी नहीं, मात्र परिणतिका अन्तर ही तो है। वह विकार मेरा स्वभाव नहीं, ऐसे विकारका प्रतिषेध करके समस्त शक्तियोंके अभेदस्वरूप निज आत्माको देखनेपर उपयोगमें भी अपूर्णता नहीं रहती, ऐसे परिपूर्ण निज आत्माका जिसे अनुभव है, उसे जगतमें कुछ वांछनीय नहीं है। यह चैतन्यस्वभाव ही मोहका नाशक है, उस स्वभावकी मुझे प्रतीति हो चुकी। अब मोहके क्षयमें शङ्का नहीं, ऐसे मोहक्षयके कार्यमें निःशंकता आनेपर मोहक्षय चाहे दूसरे तीसरे भवमें हो तथापि इस निःशङ्कताके बलपर इस प्रणालीमें अन्तर नहीं आवेगा।

आत्मज्ञानमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा—सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य मात्र आत्मज्ञान है, आत्मज्ञानी ही अहिंसक हो सकता है। वस्तुतः हिंसा स्वयं स्वयंकी करता है और अहिंसा भी स्वयं स्वयंकी करता है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभकी परिणति ही हिंसा है और इन परिणतियोंका अभाव ही अहिंसा है। जो ऐसे परिस्पष्ट स्वरूपके उपयोगमें होता है, उसके मिथ्यात्वादि

Version 1

का अभाव होनेसे अहिंसा स्वयं है । यथार्थतया अर्हद्भक्त अहिंसक है । वही सच्चा दयालु है । अपनी दया ही सर्वोपरि है, अपनी दया करने वालेके निजहिंसाका महान् पातक स्वयं दूर हो जाता है । इसी प्रकार आत्मज्ञानी ही सत्य, अचौर, सुशील और अपरिग्रही होता है । जैसे अरहंतका आत्मा पवित्र शुद्ध है, उसमें और किसीका प्रवेश नहीं और न स्वयंमें से किसीकी व्युच्छित्ति है । इस प्रतीतिसे अपने स्वरूपकी ओर झुकनेमें परिपूर्ण सत्य, बाह्यके सम्पर्कका अभावरूप अचौर्य, अपने परिपूर्ण शीलमें स्थिरता और सकल परपदार्थोंके ग्रहणका अपरिग्रह स्वयं ही हो जाता है ।

स्वभावदृष्टिरूप दया— संसारी प्राणीने परभावकी दृष्टिरूप महान् खेद ही अब तक किया, स्वभावदृष्टिरूप अपनी दया नहीं की । इसीसे भवभ्रमणका महान् दंड भोगा । आत्मा स्वयं विज्ञानघन और आनन्दमय है, इसमें कोई कमी नहीं है, जो बाहरसे कुछ जोड़कर ज्ञानी व सुखी बनाया जाय । इसी तरह जो ज्ञान व सुखका बाधक है, वह बाह्यमें कहीं नहीं है, वह मोह रागद्वेषरूप विकार परिणमन ही है । वह विकार स्वभावदृष्टिके बिना दूर नहीं होता । स्वभावकी परखका उपाय जिनके स्वभावका विकास हो गया है, ऐसे अरहंत भगवानके द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्वका निरीक्षण है । यहाँ अरहंतके स्वभावको अपने स्वभावके साथ एकरूप सादृश्य कर अनुभव करनेकी बात है । इसी परिणतिसे आत्मावगम होता है । अब किस प्रकार अरहंतको द्रव्यत्वादिसे विचारनेपर अभेदस्वभावमें पहुंच होती है ? इस पद्धतिका वर्णन करते हैं ।

मोहक्षयके उपायमें दृष्टान्तपूर्वक एकत्वोपयोगका निर्देशन—जो अन्तरात्मा त्रिकाल रहने वाले उस समस्त एक आत्मद्रव्यको (जिसे कि प्रकृतमें अरहंतके उदाहरणसे प्रारम्भ किया है) एक ही कालमें ग्रहण करता है, उस अन्तरात्माके अन्तरमें ऐसी प्रबल महिमा उठती है कि उसके निजस्वभाव सामान्यमें स्थिति हो जानेसे निराश्रयताके कारण मोह नष्ट हो ही जाता है। ज्ञानमें ऐसी अद्भुत महान् सामर्थ्य है कि त्रिकालसम्बंधी वह द्रव्य एक क्षणकी ज्ञानपर्यायोंमें जान लिया जाता है । यह त्रैकालिक द्रव्य विकल्परूपसे एक कालमें पूर्ण नहीं जाना जा सकता है, किन्तु निर्विकल्प पद्धतिमें परिपूर्ण ज्ञात हो जाता है । जैसे मोतियोंका एक लम्बा हार है, वह समस्त एक कालमें अनुभव होता है, परन्तु यदि एक-एक मोतीपर दृष्टि हो तब वह समस्त एक कालमें नहीं जाना जाता, अभेददृष्टिमें भी वह हार उतना ही जाना जाता है जितना कि वह पूरा है । इसी तरह अभेददृष्टिमें वह आत्मा परिपूर्ण ही जाना जाता है । यह अभेददृष्टि अथवा त्रिकालकी एक कालमें तुलना किस पद्धतिसे होती है ? वह इस प्रकार है—जैसे एक हार के अनुभवको करने वाला समस्त मुक्ताफलोंको हारमें ही संक्षिप्त गर्भित कर देता है वैसे ही यह अन्तरात्मा चेतनकी सर्वविवर्तोंको उनके मूल स्रोतभूत चेतनमें ही संक्षिप्त कर देता है तब वहाँ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

मात्र चेतन द्रव्यका— निर्विकल्प इद्यका प्रतिभास होता है। किरण विशेष्यत्वकी वासना दूर हो जाती है तब जैसे हारमें स्वभावसे जैसे स्वच्छताका प्रतिभास चलने लगा था वह भी हारमें भेदरूपसे नहीं रहता, वैसे ही पर्यायोंके अंतर्धानके पश्चात् प्रतिभासमें आया हुआ चैतन्यस्वभाव चेतनमें भेदरूपसे नहीं रहता। वहाँ जैसे केवल हारका अवगम रह जाता है, इसी प्रकार केवल आत्माका अवगम रह जाता है। जहाँ केवल आत्माका परिच्छेदन है—अमुक कर्ता है, अमुक कर्म है, अमुक क्रिया है, ऐसा विभाग नष्ट हो जाता है। यहाँ जैसे हार पहिनने वाला पुरुष हारकी शोभाके सुखका अनुभव करता है, किन्हीं विकल्पोंको नहीं, वैसे स्वसंवेदक अतीन्द्रियज्ञान के साधनसे अभेदरूप आत्माके सुखको अनुभवता है। इस तरह जब क्रियारहित निश्चल चैतन्य-स्वभावोपयोगी होता है, वहाँ मोहका आश्रय ही नहीं रहता, सो वह मोह लयको-क्षयको प्राप्त हो जाता है।

अपूर्व धर्मसाधन—कितना अपूर्व किन्तु स्वाधीन सरल उपाय है सर्व विपदावोंके भञ्जन कर लेनेका। इस निष्क्रियकी ओर उन्मुख करने वाले पुरुषार्थके अतिरिक्त जो भी परविषय करते हुए व भेदको विषय करते हुए विकल्प हैं, वे चाहे अनाकुल सुखसंवेदनके पूर्व-वर्ती रहे आवें, किन्तु अनाकुल निर्विकल्प अवस्थाको प्राप्त नहीं करते।

यह धर्मके प्रारम्भकी बात है, जिसने अपने आत्माको नहीं जाना वह पर्यायको लक्ष्य करके कितने ही कठिन व्रत, उपवास, तप कर ले, परन्तु शांतिको प्राप्त नहीं होता। वहां यदि आनंद मानता है तो वह भी एक लौकिक सुख है। धर्म चैतन्यस्वभावके आश्रयसे होता है, परके लक्ष्यसे पुण्य पाप, लौकिक सुख दुःख, शुभोपयोग अशुभोपयोग होते हैं, वह पर चाहे स्वयंके विशेषरूप हो या परद्रव्यरूप हो, उस पर्यायके लक्ष्यमें अटक जाने वाला पर्यायदृष्टि अज्ञानी धर्मका प्रारम्भक भी नहीं है। यह बहिरात्मा आत्माका पर्यायसे ही पहिचान कर रहा है, कुछ ज्ञानमें बढ़ा तो द्रव्य, गुण, पर्यायको भेदसे ग्रहण कर रहा है, इसलिये भेदोंके आश्रयसे मोह बसाता है। परंतु जिस अन्तरात्माने पर्यायोंको गुणमें, गुणको गुणीमें अन्तर्धान करके अभेदस्वरूप निजका अनुभवन किया, वहां अखण्ड अभिन्नके लक्ष्यसे अभिन्न अविकारी पर्याय प्रकट होती है। अतः बेचारे मोहको कोई आश्रय नहीं मिलता।

प्रभुस्वरूपके अवगममें आदेशोंका विधान—यहाँ अरहंतको द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्वसे जाननेका विकल्प तब तकका है जब तक त्रैकालिक आत्मा सर्वस्वरूप परिपूर्ण एक कालमें अनुभूत नहीं होता। इन विकल्पोंके द्वारा अखण्ड आत्मा लक्ष्यरूप किया गया है, उस अखंड अभेदरूप आत्माके लक्ष्यसे विकल्पोंको तोड़कर अभेद आत्माकी उपलब्धिका आदेश है। ज्ञानीके अखण्ड अभेद आत्माके अनुभवके समयकी पर्यायमें पहिले पीछे स्वभावरूपताका निषेध है व अनुभव कालमें भी इससे विपरीत श्रद्धा नहीं रखते।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अरहंतके स्वरूपको जाननेपर पूर्वापर दशायें, उपाय, उपेय सर्व कुछ जान लिया जाता है। अरहंत भी पहिले अज्ञानदशामें थे, उनकी आत्माने पूर्व हुए अरहंतको द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्वसे जानकर अपने स्वरूपको पहिचाना और उस आत्मज्ञानकी स्थिरतासे शुद्धताकी वृद्धि द्वारा परमपवित्र अवस्था प्रकट की है, वे द्रव्यसे और गुणसे तो शुद्ध थे ही अब पर्यायसे भी शुद्ध हो गये हैं, इस प्रकार वे सर्व ओरसे शुद्ध हैं और अनन्तकाल तक शुद्ध रहेंगे। अरहंतके स्वरूपको जानकर आत्मस्वरूपकी भी उपलब्धि होती है—जैसा अरहंतका स्वरूप है सो मेरा है। पर्यायमें जो विकार है सो यद्यपि निजशक्तिका विकार परिणमन है तथापि मेरा स्वभाव-स्वरूप नहीं है।

प्रभुका परिस्पष्ट आत्मरूप—यहाँ अरहंतका स्वरूप अंतिम पाकपर उतरे हुए सुवर्ण की तरह अत्यन्त निर्मल जानना चाहिये। जैसे कोई भी शुद्ध सुवर्ण पहिलेसे ही शुद्ध न था प्रत्येक सुवर्ण पृथ्वीकाय है वह पृथ्वीकायिक बिना नहीं हो सकता है अर्थात् सुवर्ण पहिले खान में सुवर्णपाषाण था। उसे आँच पाकपर उतारा गया तब परद्रव्यका मेल समाप्त होकर शुद्ध हुआ, इसी तरह प्रत्येक अरहंत पहिलेसे ही शुद्ध न थे, सर्व जीवोंका आदि आवास निगोद है। व्यवहारसे क्षयोपशम लब्धिविशेष आदिका सुयोग पाकर निश्चयतः अपनी मलीनताका यथायोग्य अभाव करके उत्तम भव धारण कर मनुष्यभव पाकर आत्मपुरुषार्थ द्वारा आत्मज्ञान पाकर निज चैतन्यमें प्रतपनरूप तपके द्वारा घातिया कर्ममल दूर होकर आत्मासे मोह राग द्वेषादि विभावका क्षय करके निर्मल दशा प्रकट की है। यहाँ स्वभावदृष्टिसे देखो तो जैसे ७५—८० टंची सोना हो, चाहे सौ टंची सोना हो, दोनों स्वभावतया समान हैं, हां वर्तमान दशामें अवश्य अन्तर है। स्वभावकी समानताकी श्रद्धा होनेपर ही ७५ टंची सोनाको अत्यन्त निर्मल बनानेके वास्ते सौ टंची सोने (जो कि पर्यायसे भी शुद्ध है) से मेल किया जाता है और फिर जो अशुद्ध सुवर्णमें अशुद्धता ज्ञात हुई, उसे सुवर्णमात्रके विकासके लक्ष्यसे अन्य पाकपर उतारा जाता है। इसी प्रकार मैं स्वभावसे अरहंतदेवकी आत्माके स्वभावके समान हूं, मात्र वर्तमान अवस्थामें अंतर है। अंतर करने वाला जो विकार है, वह मेरा स्वभाव नहीं है, क्षणिक पर्यायरूप है। इसे जिस उपायसे अरहंतदेवकी आत्माने क्षय कर दिया है। मेरे भी उस अविकारी स्थायी स्वभावदृष्टि द्वारा क्षय हो जायगा। ज्ञानी अशुद्ध अवस्थामें भी वर्तमान निज आत्माको निर्मल आत्माके साथ मेल करता है, फिर उसे जो निर्मल आत्माको लक्ष्य कर अपनी ज्ञानपरिणतिसे स्पष्ट स्वभाव दिखा है, उसके बलसे अशुद्धताको दूर कर देता है।

परिस्पष्ट आत्मस्वरूपके अवगमसे प्रभुतालाभके उपायका निर्णय—अरहंतके परिस्पष्ट स्वरूप जाननेसे आत्माकी पद्धतिका स्पष्ट शीघ्र निर्णय हो जाता है। जैसे अरहंतका आत्मा सर्व लोकालोकको जानकर भी लोकालोकसे अत्यंत पृथक् है इसी तरह जगतके सभी आत्मा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परपदार्थोंको जानकर भी परपदार्थोंसे अत्यंत पृथक् हैं। जैसे अरहंत प्रभुका सुख आत्मस्वभाव से प्रकट होता है, वैसे जगतकी सभी आत्मावोंका सुख निज सुख शक्तिकी परिणतिसे प्रकट होता है, अन्य किसी भी परपदार्थसे नहीं। जैसे अरहंत प्रभुका आत्मा अपनी ही परिणतियों का ही कर्ता है अन्य किसीका नहीं वैसे ही सर्व प्राणी भी अपनी परिणतियोंके कर्ता हैं किसी परद्रव्यकी परिणतिके कर्ता नहीं हैं। अरहंतदेव जैसे परसे अकिञ्चन अपनेसे परिपूर्ण हैं ऐसा ही हमारा आत्मा है। अरहंतदेव पुण्य पापरहित, परिग्रहरहित और अपने ज्ञानदर्शन आदि सर्वशक्तियोंसे परिपूर्ण हैं, इसी प्रकार मैं आत्मद्रव्य भी पुण्य-पापरहित अपने ज्ञान, दर्शन आदि सर्व शक्तियोंसे परिपूर्ण हूं। इस प्रकार अरहंत देवकी तुलनासे निज स्वभावोन्मुखताके विकल्प करके उन विकल्पोंको भी तोड़कर स्वभावमें एकाग्र हुआ यही पुरुषार्थ मोहका क्षय कर देता है। अरहंतके स्वरूपको देखकर अपनी प्रतीति करने वालोंको परद्रव्यको करने या परद्रव्यसे अपना कुछ करानेको प्रतीक्षा नहीं रहती है। इसलिये विकल्पोंके महान् क्लेशसे दूर हो जाता है।

अभेद ब्रह्मके अनुभवसे मोहसेनाकी विजय—कर्ता कर्म क्रियाके विभागके विकल्प अस्थिरता आकुलता उत्पन्न करते हैं। जहां मैं ही कर्ता हूं, कर्म हूं, क्रिया हूं—इस प्रकारके अभिन्न कर्ता, कर्म, क्रियाका अनुभव किया वहां तदनंतर पर्यायको गुणमें, गुणको द्रव्यमें अन्तर्लीन कर देनेके कारण यह अभिन्न कर्तृ कर्म क्रियाका भी भेद क्षीण हो जाता है और ज्ञानस्वभाव वृंहणशील होता है, इसी शक्तिके कारण इस आत्माका नाम ब्रह्म भी है। इस ब्रह्मके अनुभवको प्राप्त—निष्क्रिय चैतन्यमात्र असीमित भावको प्राप्त अन्तरात्माके निष्कंप निर्मल प्रकाश वाले रत्नकी तरह (जैसे वहाँ अंधकारको अवकाश नहीं) निराश्रयता होनेसे वहां मोहांधकार प्रलीन हो जाता है।

यदि ऐसा ही हुआ तो मैंने मोहकी सेनाके जीतनेका उपाय पा लिया। यहाँ शंकारूप बात नहीं है, यह तो जाननेके बाद निःशङ्क शिष्य धर्मकी सरलता, स्वाधीनता व सुकरता समझकर कि बस इतना ही काम है—खुदका खुदमें जाननमात्रकी ही बात है तो मोहसेनाके जीतनेका उपाय तो यही हाथमें ही है, प्राप्त हुआ। अब यह अलौकिक धनी जिसने सम्यग्ज्ञान रूपी चिन्तामणि प्राप्त कर लिया है, वह इस ओर जागता ही रहता है, क्योंकि अपूर्व रत्नको हस्तगत कर लेनेपर उसकी स्थिर व्यवस्था व्यवस्थित जब तक नहीं कर पाता है तब तक वह समझता है कि इस प्रकार अलौकिक स्वभावदृष्टिसे यह सम्यक्त्वरूपी चिन्तामणि प्राप्त भी कर लिया तब भी मेरा प्रमाद इस रत्नका चोर है। इसलिये यह ज्ञानी जागता ही रहता है, अपने स्वभावके उन्मुख होनेको यत्नशील रहता है।

सम्यक्त्वचिन्तामणिकी रक्षाके लिये ज्ञानजागरण—यह सम्यक्त्व चिन्तामणि है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चिन्तामणिके सम्बन्धमें यह किम्बदन्ती है कि इस रत्नके हस्तगत होनेपर जो जो विचारो, उसकी पूर्ति हो जाती है, परन्तु किसी भी पाषाणमें रत्नमें ऐसी शक्ति नहीं है कि उसके पाने पर जो जो विचारो, वह प्राप्त हो ही जावे। किन्तु सम्यक्त्व ही चिन्तामणि है, इसके पानेपर सर्व अर्थकी सिद्धि हो जाती है। जहाँ समस्त परपदार्थोंसे परभावोंसे पृथक् निज चैतन्यभावमें स्थिरता हो जाती है, निर्विकल्प स्वानुभव होता है वहाँ समस्त अनन्त पदार्थोंमें मोह, राग, द्वेषका अभाव होनेसे अनन्त आकुलताका अभाव हो जाता है, वहाँ सर्व अर्थकी सिद्धि ही हुई। उस सम्यक्त्वरूपी चिन्तामणिके पानेपर भी यदि प्रमाद रहा अर्थात् विषयकषाय भाव रहा तो सम्यक्त्वरूपी रत्न रुल जायगा। यह चोर कहीं बाह्य अर्थमें नहीं है वह मेरी ही असावधानीका परिणमन है, इसीलिये उसका बड़ा धोखा है। यह इतना बड़ा धोखा है कि यदि इस के चक्रमें आये तो फिर ऐसा भी संभव है कि कुछ कम अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल तक संसार-चक्रमें रुलना पड़ेगा। अतः यहाँ अन्तरात्मा बार-बार जागता है—यहाँ जागनेका तात्पर्य अपने आपको रागद्वेषमें बचाकर शुद्धस्वरूपमय अपने आपको प्राप्त करनेका यत्न है। वह किस प्रकार जागता है, इसका विवरण श्री भगवान कुंदकुंद आचार्य करते हैं—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८१॥

निजस्वरूपाचरणसे शुद्धात्मत्वका लाभ—जिसका मोहभाव दूर हो गया है, ऐसा ज्ञानी जीव आत्माके सम्यक् शिवमूल यथार्थ स्वरूपको प्राप्त करता हुआ भी यदि रागद्वेषरूप प्रमाद भावको त्याग देवे तब वह जीव शुद्ध निर्मल आत्माको प्राप्त होता है। मोहको दूर करनेका उपाय ऊपर कहा गया उपाय है। अर्थात् अरहंतको द्रव्य, गुण, पर्यायसे जानना और अपने स्वभावसे एकमेक करना और पर्यायको गुणमें गुणको द्रव्यमें अन्तर्लीन करके निष्क्रिय चैतन्यमात्रका अनुभव करना मोह दूर करनेका उपाय है। यह उपाय सरल स्वाधीन होनेपर भी अबसे पहिले कठिन ही रहा है, इसमें निमित्त कारण मोहनीय कर्मका विपाक है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, मात्र अपनी ही परिणतिसे सब परिणमते हैं, किन्तु जो स्वभावविरुद्ध परिणमन है, उसमें निमित्तका आश्रयमात्र होना आवश्यक है। जैसा यहां आप दरीपर बैठे तो दरीने जबरदस्ती आपको नहीं बिठाया है कि आप स्वयं दरीको आश्रयमात्र करके अपनी क्रियासे बैठ गये। यहाँ मैं तख्तपर हूं, तो तख्तने जबरदस्ती तो हमें बिठाया नहीं। हम ही स्वयं अपनी कषायचेष्टासे प्रेरित होकर निमित्तके निमित्तकी परम्परापूर्वक यह शरीर शरीरक्रियासे परिणत होता हुआ तख्तको आश्रयमात्र करके बैठ गये। ऐसी प्रक्रिया सर्वनिमित्तोंकी जानना, फर्क इतना है कि जहाँ परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, वहाँ कुछ विशिष्टता नजर आती, फिर भी सर्वत्र सर्वद्रव्य परस्पर अत्यंताभावको लिये हुए हैं। प्रकृतमें विभावपरिणामोंको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निमित्तमात्र पाकर बद्ध हुए मोहनीय कर्म स्पर्द्धकोंके विपाकको निमित्त मात्र पाकर जीवकी निज स्वरूपाचरणमें कुछ भी सावधानी न रही तो वह अशुद्ध आत्माको अर्थात् संसरणको प्राप्त होता रहेगा।

क्षयोपशमलब्धिका लाभ—सम्यक्त्वप्राप्तिके अर्थ ५ लब्धियाँ होती हैं। जिसमें सर्व प्रथम लब्धिका नाम क्षयोपशमलब्धि है, जिसका अर्थ सर्व कर्मोंके अनुभाग आदिमें शिथिलता होना है। सो सर्वप्रथम कर्मोंकी शिथिलता होना आत्मोन्नतिमें आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो क्या कारण है जो विशिष्ट विशुद्धिका पात्र जीव नहीं होता है। यदि अकारण ही कहो तो व्यतिकर संकर हो जायगा। यदि यह कारण कहो कि खुदने खुदपर दृष्टि नहीं की तो यह तो प्रश्नसम उत्तर हुआ। यहीं तो पूछा जा रहा है कि क्यों खुद खुदपर दृष्टि न कर सका? कर्मोंके फलोंमें क्यों जुड़ता रहा? इसका समाधान मोहनीयकर्मके विपाकको निमित्त माननेके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। ऐसा माननेपर पुरुषार्थको ऐकान्तिक पराधीनता नहीं आती है, क्योंकि हम लोग जिस अवस्थामें बैठे हैं, वहां उतने क्षयोपशमकी तो निश्चितता है ही। अब पुरुषार्थके लिये बहाना करना ठीक नहीं है, यह तो प्रथम अवस्थाकी बात कही है। वहाँ भी वह विभाव कर्मके आधीन नहीं, स्वके चतुष्टयके ही आधीन है, पर तो मात्र निमित्त है। आत्मभाव और कर्मविपाक—इन दोनोंमें मुकाबलेतन आत्मभावकी विशिष्टता है, क्योंकि यह ईश्वर है, फिर भी अत्यंत तीव्रमोहकी निम्न अवस्थामें जीवके उन्नतिका प्रारम्भ क्षयोपशमलब्धिसे होता है। ऐसा होनेपर भी कर्मसे परिणति नहीं होती, सर्व द्रव्योंका अपने अंतरमें ही परिणमन होता है।

मोहप्रक्षयके होनेपर रागद्वेषका शीघ्र क्षय—द्रव्य है और उसकी पर्याय है। पर्याय द्रव्यस्वभावकी ही प्रतिसमयकी अवस्था है, वह जिसका परिणमन है, उसपर दृष्टि जाय तो पर्याय गौण होकर मात्र द्रव्य अनुभवमें रहे—इस तत्त्वको जिसने जाना, उसने आत्माको जाना और उसके मोहका अपसरण हुआ। इस प्रकार उपवर्णित स्वरूपके उपायसे मोहको दूर करके भी व भले प्रकार आत्मतत्त्वको प्राप्त करके भी यदि रागद्वेषको कोई निर्मूलन करता है तो ही शुद्ध आत्माको अनुभवता है। रागद्वेषको पुष्ट करने वाला मोह है, जैसे वृक्षकी हरियालीका पोषक वृक्षकी जड़ है। वृक्षकी जड़ मिट जानेपर हरियाली कब तक रहेगी? इसी प्रकार मोहके दूर होनेपर रागद्वेष कब तक रहेगा? फिर भी यदि रहे हुए रागद्वेषका अनुवर्तन करेगा। तो प्रमाद विषयकषायके तंत्र होनेसे लुट गया है, शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप चिन्तामणि जिसका ऐसा निर्धन होता हुआ अंतरंगमें संतप्त ही होवेगा। इस रागद्वेषकी आपदाका कारण देवस्वरूपकी मूढ़ता है अथवा जहाँ मोहादि भावोंका उदय हुआ, वहाँ देवस्वरूपमें मुग्ध हो जाता है। तो देवस्वरूपका भूल जाना व मूढ़ता हो जाना पुनः पतनका साधन हो जाता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अरहंत प्रभुके स्वरूपको द्रव्य गुण पर्यायोंसे जानकर पश्चात् तद्रूप जो निज शुद्धात्मस्वभाव है, उसमें स्थिर होकर मोक्षमार्गका अंतिम स्थान पावेगा। उदयमें आते हुए रागद्वेषका अनुवर्तन न करना अन्तरात्माका पुरुषार्थ है। आये हुए को पूछना उससे निवृत्त होनेका उपाय है।

अन्तस्तत्त्व चिन्तारत्नके लुट जानेका कारण प्रमादाधीनता—इस आत्माका शुद्ध आत्मतत्त्वरूपी चिन्तारत्न लुट गया, इसका अंतरंग कारण उस ही आत्माका प्रमादके आधीन हो जाना है। जैसे लोकमें कहते हैं कि अपनी सावधानी नहीं करते, दूसरोंको लुटेरा कहकर कोसते हो, इसी तरह आत्मा अपनी सावधानी नहीं करता और बाह्य पदार्थको अपने शुद्ध विकासका लुटेरा कहते हैं। बाह्य द्रव्य अपनी ही परिणतिका कर्ता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणतिको त्रिकालमें भी नहीं कर सकते। यदि कोई किसीकी परिणति कर दे अर्थात् उस पर्यायमें उस काल तन्मय हो जावे तो द्रव्यका ही अखंड स्वरूप न रहनेके कारण नाश हो जावेगा। तब यहाँ जो आत्माकी विकृत अवस्था हो रही है, वह उस ही की भूलका परिणाम है। आत्मस्वभावको भूल जानेसे जो विपदा आती है, उससे वह अन्तरंगमें महान् संतप्त होता रहता है। जो भूल करता है वही संतप्त होता है, यह द्रव्यदृष्टिसे कथन है। भूल करने वाली पहिली पर्याय है और संतप्त करने वाली पर्याय अगली पर्याय है। यह भेद पर्यायदृष्टिसे कथन है। यथार्थतया तो भूल करते समय ही वही पर्याय भूलके फल आकुलताको भोगती है और उस समयकी अवस्थाको निमित्तमात्र पाकर कर्मरूप हुए कार्माणवर्गणावोंके उदयकालमें उपचार से पूर्व क्रियाके फलको भोगते समय प्रमाद (भूल) को वही पर्याय करती है। मेरे चोर मेरे ही अंदर हैं, परन्तु स्वभावमें नहीं, क्योंकि वह चोर विभाव पर्याय है, और सभी पर्यायोंका प्रवेश स्वभावके ऊपर है अर्थात् स्वभावकी निरुपाधि अथवा सोपाधि क्षणिक परिणतियां हैं। सो ये जो लुटेरे मेरे अन्दर हैं, वे रागद्वेष ही हैं। अतः मुझे इन रागद्वेष विभावोंके निषेधके लिये अत्यंत जागृत रहना चाहिये।

रागद्वेषके निर्मूलनमें परिस्पष्ट शुद्धात्माका लाभ—इस गाथामें मोहके अपसरणकी बात कही गई है और बताया है कि मोह दूर करके भी आत्मतत्त्वको प्राप्त करके भी यदि रागद्वेषका निर्मूलन करें तो शुद्धात्माका अनुभव होता है। यहाँ सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानका एक साथ होना सूचित किया है। जिस कालमें मोह (अज्ञान) का विनाश है उसी कालमें आत्मतत्त्वका अवगम है, किन्तु अभी चारित्रकी प्राप्ति नहीं है। इसलिये कहते हैं कि यदि राग-द्वेषका निर्मूलन करें तो शुद्धात्माका अनुभव हो। यहाँ बताया गया है कि शुद्धात्माकी रुचि रूप सम्यग्दर्शन व आत्मतत्त्वके अवगमरूप सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर भी रागद्वेषका निर्मूलन न हो तो शुद्धात्माका अनुभव नहीं होता। शुद्धात्माका अनुभव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व स्व-रूपाचरण चारित्रकी विशेषता—इन तीनों करि साध्य है। रागद्वेषकी प्रवृत्तिमें शुद्धात्माका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अनुभव नहीं तथा यदि बार-बार रागद्वेषका अनुवर्तन किया तो वह आत्मतत्त्वोपलंभक सम्यक्त्व व सम्यग्ज्ञानरूपी रत्न लुट जायगा, मिथ्यादृष्टि हो जावेगा। साधारणतया रागद्वेषके रहते हुए भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान रह लेता है, किन्तु मोह आसक्ति पुनः-पुनः रागद्वेषमें लगनेसे सम्यक्त्व भी नष्ट होता है। सम्यग्दृष्टिके जो रागभाव रह जाता है, उसमें उसकी रुचि नहीं है, उसे विकार समझकर हटानेका ही भाव करता है। रागद्वेष विकार उपाधिज भाव है, मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो ज्ञाता हूं, ऐसी अन्तःस्वीकृति उसके है। इस गाथासे पहिले मोहके अपसरणका उपाय बताया है कि अरहंतके द्रव्य, गुण, पर्यायको जानने वाले आत्माको जानते हैं—अनुभवते हैं और वे मोहके क्षयको प्राप्त होते हैं।

संसरणके निवारणके लिये अत्यन्त जागरणकी आवश्यकता—इस गाथामें बताया जा रहा है कि उक्त उपायसे आत्माका परिज्ञान भी हो जावे, किन्तु जब तक भेदरूप विकल्प बना रहता है तब तक शुद्धात्माका अनुभव है। क्योंकि पर्यायोंको गुणमें, गुणको द्रव्यमें विलीन करके द्रव्य विकल्पको भी तोड़कर शुद्ध आत्माका अनुभव होता है। वहाँ जो पहिले अरहंत देवकी भक्तिरूप भाव है, वह शुद्धात्मासे विलक्षण होनेसे विकृत भाव है, विकारसे धर्म नहीं होता, उस विकाररूप विकल्पसे मुक्त होकर शुद्धात्माका अनुभव है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जिसके विषयकषायरूप तीव्र राग है, अर्हद्भक्तिरूप मंदरागकी योग्यता ही नहीं है, वह अविकारी आपके उन्मुख होनेका प्रथम पात्र भी नहीं है, परन्तु जो भक्तिरूप मंदरागमय पर्याय में ही अटक जावे तब वह भी अविकारी भावके उपयोगका पात्र नहीं है, और जो विषयकषाय के रागमें अटक जाय तो सम्यक्त्व पाया हो तो वह भी नष्ट हो जाता है। अतः मुझे रागद्वेष के निवारणके अर्थ अत्यंत जागृत रहना चाहिये।

संसारपारगामीका संसारपारका मार्गनिर्देशन—अब ग्रंथकार श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य इस तरहकी बुद्धिको व्यवस्थित कराते हैं कि मोक्षका वास्तविक पंथ यही भगवंतोंने स्वयं अनुभव करके प्रदर्शित किया है। यह ही मार्ग, अन्य नहीं जो कि ८० व ८१ गाथामें कहा गया है। यह एक ही है। लौकिक विनयवादी कहा करते हैं कि किसी मजहबका सहारा लो, सब एक ही जगह पहुंचाते हैं, परन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि किसीने स्वतंत्रताको धर्म कहा है, तो किसीने परतंत्रताको, किन्हींको अपनी ही सत्ता स्वीकार नहीं है, तो किसीको अपनी कूटस्थ सत्ता स्वीकार है आदि। ऐसी परस्पर विरुद्ध धारणावोंका प्राप्ति स्थान एक नहीं होगा। आत्माको द्रव्य, गुण, पर्यायसे जानो। जब आत्मद्रव्य स्वतंत्र है तब गुण भी स्वतंत्र है और पर्याय भी स्वतंत्र है, परको निमित्तमात्र करके परिणमने वाले विभाव अपनी परिणति क्रिया में स्वतंत्र हैं, पर्याय परिणमनेमें स्वतंत्र है। इससे विपरीत द्रव्यको परतंत्र मानना, गुणको परतंत्र मानना, पर्यायको परतंत्र मानना, दिखती हुई दुनियाका भी विनाश करना है, परमा-

Version 1

र्थिक नाश तो है ही। भगवंत अरहंत देवाधिदेवने स्वयं इस मार्गका अनुभव किया और सफल हुए। सफल होकर निरीह दिव्यध्वनि द्वारा लोगोंको बतानेमें निमित्त कारण हुए। मोक्षमार्ग निज आत्मस्वभावकी रुचि प्रतीति स्थिति है, अन्य नहीं है। ऐसी परिपूर्ण श्रद्धा हुए बिना मोक्षमार्गका प्रारम्भ नहीं होता। जैसा तत्त्व है, वैसी ही बुद्धिकी व्यवस्था करनेमें लौकिक सुख तो सिद्ध होता ही है, पारमार्थिक सुखकी सिद्धि भी यही है, अन्यत्र भावोंमें नहीं है। अतः ऐसी मतिकी व्यवस्था होना अत्यंत आवश्यक है। उसीका विवरण करते हैं—

सव्वेवि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥

विशुद्ध पंथको प्रणमन—अरहंतको द्रव्य, गुण, पर्यायसे पहिचानकर निज आत्माको जानने वाले समस्त मोहभावको दूर करते हैं। निजात्मस्वभावकी रुचि प्रतीति मोक्षमार्गका उपाय है। इस ही उपायसे भव्य आत्मावोंने कर्मांशोंका क्षय किया है और अरहंत हुए हैं, तब उस ही प्रकारका निरीह उपदेश देकर पश्चात् निर्वाणको प्राप्त हुए हैं। अहो! कैसा शुद्ध ध्येय, शुद्ध आलम्बन, शुद्ध यत्न, शुद्ध ज्ञान व शुद्ध द्रव्य है। यह सब निज आत्मस्वभावकी उन्मुखताका फल है। अरहंत देव स्वयं शुद्ध होकर स्वयंकी सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं और अन्य भव्य जीवोंको स्वयं अनुभव किये हुए मार्गका उपदेश देकर उनके उपकारके विशुद्ध कारण होते हैं। अहा! जिनके निमित्तसे हमें मोक्षमार्गका निश्चय हुआ है, वे अरहंत व यह मोक्ष-मार्ग हमारे परमोपकारी हैं उन मोक्षमार्गके उपदेशक अरहंत देवोंको और इस मोक्षमार्गको जो कि एक निज शुद्ध आत्माकी अनुभूतिस्वरूप है हमारा नमस्कार हो।

अरहंत प्रभुकी वर्तमानता—भगवान अरहंत देव अनन्त हो गये हैं। ५ भरतक्षेत्र व ५ ऐरावतक्षेत्र, इन १० कर्मभूमियोंमें अर्थात् इन क्षेत्रोंके उत्सर्पिणी अथवा अवसर्पिणी कालके चतुर्थकालमें उत्पन्न हुए भव्यात्मा अरहंतदेवके द्रव्य, गुण, पर्यायोंको जानकर अपने आपको पहिचानकर निज शुद्धात्मानुभूति करनेके उपायसे अरहंत हुए हैं। इनमें प्रत्येक चतुर्थकालमें हुए २४ तीर्थंकरोंने विशेषरूपसे भव्य जीवोंको दिव्यध्वनि दी है। इसमें कहीं रागभाव नहीं है, यह तीर्थंकर प्रकृतिके उदयका फल है। ऐसे चतुर्थकाल अनन्त हो चुके हैं तथा ५ महा-विदेहोंमें सर्वदा मोक्षमार्ग चलता रहता है। वहाँके उत्पन्न निकट भव्य आत्मा सदा मोक्ष जाते रहते हैं। इस प्रकार अतीतकालमें अनन्त अरहंत हो गये हैं, भगवन्त तीर्थंकर हो गये हैं। उन्होंने अन्य कोई उपाय न होनेसे एकमात्र इस ही निज शुद्धात्मानुभूतिके उपायसे कर्मांशोंका क्षय किया है। यहाँ कर्मांश शब्द देनेका भाव यह है कि कर्मोंका काण्डकोंकी विधिसे क्षय होता जाता है। जिन्होंने उस पारको पाया है, वे ही बीचका मार्ग जो तिरनेका उपायरूप है कहनेमें प्रामाणिक समझे जाते हैं। इस ही कारणसे अरहंत प्रभु ही परम आप्त हैं, इन्होंने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

स्वयं निज शुद्धात्माका अनुभव करके कर्मांशोंका क्षय किया है और अन्य भव्यात्मावोंको, मुमुक्षुवोंको अतीतकालमें उस ही प्रकार उपदेश दिया है व वर्तमानमें भी महाविदेहादिमें इस ही यथार्थमार्गका उपदेश दे रहे हैं, और उपदेश देकर निरीह होने वाली उस क्रियासे भी विराम लेकर अयोगस्वरूपी द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म इन तीनों प्रकारके मलोंसे अत्यन्त रहित होकर निश्रेयस अर्थात् परमकल्याणको प्राप्त हुए हैं। इसलिये यह स्वातंत्र्य और अभेदीकरण मोक्षमार्ग है अन्य नहीं, यह निश्चय किया जाता है।

प्रभुस्वरूपके अवगमसे स्वतंत्रताका अवलम्बन—जिसने अरहंतके द्रव्य, गुण, पर्यायको जाना उसने स्वतंत्र स्वरूप ही जाना। जैसे अरहंतदेवका आत्मद्रव्य स्वतंत्र स्वयं रक्षित अखंड सत् है, वैसे ही मैं भी स्वतंत्र स्वयंरक्षित अखंड सत् हूं। इसी प्रकार गुण भी स्वतंत्र स्वयंरक्षित अखंड सत् हैं, पर्याय भी गुणकी परिणतिमात्र है, वह भी अवश्यंभावी है, वह भी अपने काल में होती ही है। पर्याय गुणकी परिणतिमात्र है, अतः पर्याय न अन्य द्रव्यसे आती है, न अन्य गुणोंसे आती है, न अन्य पर्यायोंसे आती है। सूक्ष्मतया तो वर्तमान पर्याय वर्तमान कारणक है। विकल्पोंसे निर्विकल्प अवस्था नहीं होती है। निर्विकल्प अखण्ड द्रव्यके द्रव्यस्वभावके लक्ष्यपूर्वक समस्त विकल्प पक्षोंसे अतीत होकर ही निर्विकल्प अनुभव पाया जाता है। अविकारी पर्यायका आलंबन विकार नहीं है। विकारके आलंबनसे विकार ही होता है। शुभ अशुभ भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं और न इन विभावोंके आलंबनसे अविकारी निर्मल पर्याय प्रकट होती है। द्रव्यमें भी पर्याय पर्यायके आलंबनसे नहीं होती है, किन्तु द्रव्यके आलंबनसे होती है। ऐसा होते हुए भी जिनके उपयोगने अध्रुवका अर्थात् पर्यायका आलंबन लिया है, उनके मलिन पर्यायका प्रवाह होता है और जिन्होंने जैसा होता है, उस ही प्रकार प्रयोग द्वारा ध्रुव अर्थात् द्रव्यका आलम्बन लिया है, उनके निर्मल पर्यायका प्रवाह होने लगता है।

द्रव्यदृष्टिमें अविकार स्वभावकी उन्मुखता—यह द्रव्यदृष्टि ही निर्णयका प्रारंभ है, द्रव्यस्वभावका कारण रूपसे उपादान होते जाना निर्वाणका मार्ग है, अन्य नहीं, ऐसा निश्चय किया जाता है अथवा बहुत प्रलापसे क्या लाभ है? जब वस्तु-तत्त्व हस्तगत हो गया है तब प्रलाप व्यर्थ है, इससे क्या लाभ है? मेरी मति व्यवस्थित हो गई है, श्रद्धामें निष्कंप हो गई है। बस! बस!! भगवंत अरहंत देवोंको नमस्कार हो। उनके द्रव्य, गुण, पर्यायोंके स्वरूप ज्ञानसे पश्चात् उसही प्रकार अपने आत्माके अवस्थानरूपसे भाव्यभावकके विभागके अभावसे होने वाली स्वरूपतन्मयतासे अद्वैतनमस्कार हो। व्यवहारमें प्रवेश होनेपर अरहंत प्रभुका ध्यान ही रहो, शुद्धात्माका ही ध्यान रहो। धन्य है महंतोंकी परमोपकारिता स्वयं स्वरूपसे विचलित न होकर जिनके निष्काम योगको निमित्त पाकर भव्य जीव मिथ्यात्व महापापका निर्मूलन कर देते हैं और चारित्रका आश्रयकर वीतराग अवस्था प्राप्त कर लेते हैं उनके लिये

Version 1

प्राप्त सर्व सामग्री जो विसर्जित हो सकती है निर्वपन करता हूं। तन, मन, वचन तीनों विनाशीक हैं।जो विनाशीक है, वही विसर्जित हो सकती है। अतः उस शुद्धात्माके ध्यानमें ही यह तन लगो, मन लगो, वचन लगो। धन तो प्रकट क्षेत्रतः भी भिन्न है। धनके काल्पनिक अधिकारी अपने धनको वीतरागमार्गके प्रचारमें ही लगा देते हैं। मेरा सर्व कुछ भगवंत अरहंत की आराधनामें लगो। भगवंत देवाधिदेव अरहंतोंको भक्तिसे नमस्कार हो। अहो! इस गुणगानके कालमें भी ज्ञानी अविकारी स्वभावके उन्मुख हो रहा। जिस रागका फल वह चेष्टा है, उस रागकी उन्मुखता नहीं है, उस रागके प्रति यह विकारभाव है। इससे परे अविकारी मेरा स्वभाव है, स्थान है, यह प्रतीति चल रही है। निर्वाणमार्ग और निर्वाणमार्गके उपदेशकोंकी परमोपकारिता जानकर बहुमान होना मुमुक्षुका अनिवार्य कर्तव्य है, किन्तु प्रोग्राम उसका सिद्ध प्रभु ही होनेका है। इस प्रकार अन्तरात्मा निर्वाणमार्गका निश्चय करके, अपनी मतिकी निष्प्रकंप व्यवस्था करके अन्तमें कुछ भी करने योग्य क्रिया-कलाप न रहनेसे भगवंत अरहंत को नमस्कार करके स्वमें विराम पाता है।

हितपरिपंथी मोहप्रकृतिकी भूमिका—अब आचार्य श्री कुंदकुंद महाराज शुद्धात्मलाभ के परिपंथी मोहके स्वभाव और भूमिकाओंको कहते हैं—यह मोहपर्याय पर्यायदृष्टिसे शुद्धात्माका परिपंथी है—अवरोधक है, किन्तु द्रव्यदृष्टिसे शुद्धात्माका परिपंथी कोई भी पर्याय नहीं है, क्योंकि सर्वद्रव्योंसे पृथक् शुद्ध आत्मद्रव्य अनादिसे अनन्त सर्वत्र पर्यायोंमें व्यापक है। हां मोहपर्याय शुद्धात्माके लाभका परिपंथी है। शुद्ध निर्मल स्वतन्त्र आत्मद्रव्य सदा प्रकाशमान होते हुए भी मोहपर्यायके साथ एकमेक किया गया होनेसे उस पर्याय कालमें अनुपलब्ध है। ऐसे शुद्धात्मलाभका परिपंथी जो मोह है, उसके स्वभावको बतलाते हैं।

प्रश्न—पर्याय स्वयं किसी स्वभावकी परिणति होती है, अतः पर्यायका स्वभाव कहना अनुपपन्न है। स्वभावका पर्याय तो होता है, परन्तु पर्यायका स्वभाव नहीं होता है, तब यहां पर्यायका स्वभाव कैसे घटित होगा? उत्तर—पर्यायके कार्यको फलको यहां पर्यायका स्वभाव बताया गया अथवा जिस पर्यायके कालमें जिस फलका होना अवश्यंभावी होता है, वह फल अथवा उस फलकी प्रकृति पर्यायका स्वभाव कहलाता है। लोकमें भी कहते हैं कि बिच्छूका स्वभाव काटना है, कुत्तेका स्वभाव भौंकना है आदि। यहां मोहविभाव आवे तो उसकी प्रकृति क्या है? यह समझना है।

अब मोहके स्वभावको व भूमिकाओंको कहते हैं—भूमिका स्थानविशेषका नाम है, मोहके अवरुद्ध स्थानोंको जानकर मोहके स्वभावसे परिचित कराया जाता है तथा मोहके अवरुद्ध स्थानोंको जानकर मोहके स्वभावका परिचय प्राप्त होता है। इस तरह स्वभाव व भूमिकाओंमें परस्पर सहकारिता है। अतः एक ही गाथामें मोहके स्वभाव और भूमिकाओंका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

विभावन करते हैं—वर्णन करते हैं। मोह एक विभावपर्याय है, अतः यहां विभावयति शब्द का मेल किया है। अब मोहके स्वरूप और भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

दव्वादिएसुमूढ़ो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति।
खुब्भदि तेणोच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥८३॥

मोहकी प्रकृति व उसके विनाशकी जीवशक्ति—जीवका जो परिणाम द्रव्य, गुण, पर्यायमें मूढ़ है, विवेकरहित है, वही तो मोहभाव है। उस मोहभावसे आच्छादित हुआ यह बहिरात्मा रागभावको व द्वेषभावको प्राप्त होकर क्षुब्ध होता रहता है। यही जीवकी बेहोशी है। जैसे धतूरेका पान करके जीव असावधान-उन्मत्त रहता है, उसे किसी पदार्थमें विवेक नहीं रहता, सर्वव्यवहार अविवेकपूर्ण रहता है इसी प्रकार इस मिथ्यात्व रसपानसे जीव असावधान-उन्मत्त रहता है। यह सब मोहका नाच है, जीवका स्वभाव नहीं है। तभी तो ज्ञानी जीव मोहियोंपर यथार्थ कृपा करते हैं ग्लानि नहीं, क्योंकि ग्लानिके योग्य जीवद्रव्य नहीं, किन्तु मोहभाव ही है। मोहभाव स्वभाव नहीं है, वह प्रतिक्षण उत्पन्नध्वंसी विभावपर्याय है। इसकी स्थिति उपयोगकी अपेक्षा प्रवाहरूपसे अन्तर्मुहूर्त है, मिथ्यात्वको लम्बी स्थितिमें निरन्तर अनेक उपयोग मिथ्यात्वको रखते रहते हैं, अनादि अविद्यासे उत्पन्न जो परमें आत्म-संस्कार है, उससे अविवेकी बने रहते हैं। यह मोहपरिणाम मिथ्यात्वके उदयको निमित्तमात्र पाकर आत्माके श्रद्धा (दर्शन) गुणकी परिणतिसे होती है और वह मिथ्यात्व पूर्वमोहभावको निमित्तमात्र पाकर कार्माणवर्गणाकी प्रकृति परिणतिसे निर्वृत्त हुआ था। यही ऐसी परम्परा अनादिसे चली आई है, ऐसे अनादि परम्पराप्रवाहगत मोहभावको नष्ट कर देनेकी जीवमें प्रति क्षण शक्ति है।

स्वभावकी शाश्वत अविकारस्वभावता—यह जीवद्रव्य अनादि मोहकलङ्कको बसाकर भी स्वभावसे बिगड़ा नहीं है, मोहभावसे पृथक् निज शुद्धात्मस्वभाव परखनेकी बुद्धि जीवके ही होती है, जिसका मिथ्यात्व दूर होनेको होता है यह परिणाम भी उस पदवीमें उत्तम है, किन्तु निर्विकल्प निज शुद्धात्मस्वभावका अनुभवन न होनेके कारण सम्यग्दर्शन नहीं है। उत्तम होनेका प्रयत्न अनुत्तम अवस्थामें ही तो होता है, क्योंकि उत्तम हो जाना तो उस प्रयत्न का फल है, ऐसा प्रयत्न करनेकी जिनके योग्यता होती है उनके ही कहा जाता है कि मिथ्यात्व मंद हो गया है। जिनके मोहभावके सम्बन्धमें किञ्चित् भी ग्लानि नहीं होती, जो उसका पोषण करते रहते हैं, उनके तीव्र मिथ्यात्व कहा जाता है। मोहभावसे द्रव्य, गुण, पर्यायके विषयमें यथार्थताकी प्रतिपत्ति नहीं रहती। पहिले ८०वीं गाथामें बताया था जो अरहंतको द्रव्य, गुण, पर्यायसे जानता है वह आत्माको जानता है, उसका मोह क्षयको प्राप्त होता है अर्थात् वह सम्यग्दृष्टि होता है। अरहंत शुद्ध अवस्था है, अतः यह निष्कर्ष निकला कि शुद्ध

Version 1

आत्मद्रव्यमें शुद्ध आत्मद्रव्यके अस्तित्वादि सामान्य गुण व ज्ञानादि विशेष गुणोंमें व शुद्धात्मपरिणतिरूप पर्यायोंमें जिसे विवेक है, वह आत्मज्ञ होता है।

मोहमद्यपानमें विवेकका अभाव—अब इस गाथामें यह बताते हैं कि पूर्वोक्त द्रव्य, गुण पर्यायोंमें जिसे तत्त्वकी प्रतिपत्ति नहीं है, वह मोहभाव है। जिससे यह निष्कर्ष निकला कि शुद्धात्मद्रव्यमें और उसके अस्तित्वादि सामान्यगुण व ज्ञानादि विशेष गुणोंमें व शुद्धात्मपरिणतिरूप पर्यायोंमें जिसे विवेक नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है। जहाँ तत्त्वकी प्रतिपत्ति नहीं होती है वहाँ तीन प्रकारके अज्ञानोंमें से कोई अज्ञान रहता ही है। १. संशय, २. विपरीत, ३. अनध्यवसाय। ऐसा अंधकार जहाँ रहता है वह है दर्शनमोह। दर्शनमोहके विपाकमें जीव की परिणति मूढ़ होना पड़ती है तब वह शुद्ध द्रव्य गुण पर्यायोंको क्या जाने अथवा शुद्ध अशुद्धका अन्तर क्या समझे अथवा प्रतीतिका प्रयत्न ही कहाँसे करे? भैया! दतियामें एक राजा था। वह मंत्रीके साथ हाथीपर चढ़ा जंगलमें घूम रहा था। वहाँ मदिरा पिये हुए एक कोलीने राजासे कहा कि ओबे, रजुवा हाथी बेचेगा? राजाको क्रोध आ गया। तब मंत्री समझाता है कि हे राजन्! आप इस गरीबपर क्रोध मत करो, यह कुछ नहीं कह रहा है, यह तो और ही कोई कहता है। राजाने कहा कि यह स्पष्ट ही तो है कि यही कह रहा है तो मंत्रीने कहा—महाराज आप चले चलिये। राजदरबारमें इसका मर्म बतावेंगे। ५–६ घन्टे बाद राजदरबार लगा। यहाँ मंत्रीने उस कोलीको बुलाया। तब राजाने पूछा कि भाई मेरा हाथी खरीदोगे? तब कोली भयसे काँपता हुआ कहता है कि महाराज आप क्या कह रहे हैं इस गरीबको? आप होशमें बोल रहे हैं क्या? मेरी क्या शक्ति। तब मंत्रीने समझाया कि राजन् यह कोली वहाँ नहीं बोल रहा था, किन्तु मदिराका नशा बोल रहा था। सो भैया! यह जीवद्रव्य स्वयं नहीं नाच रहे हैं, किन्तु मोहपरिणाम ही सर्वत्र नाच रहा है। ऐसे इस मोहपरिणामसे दबे हुए बहिरात्मा परद्रव्यको तो मान रहे हैं कि यह मैं हूं अथवा यह मेरा है और परगुणको मान रहे हैं यह मेरा गुण है और परपर्यायको मान रहे हैं कि यह मेरी पर्याय है—ऐसा मानकर ही रह जाते हों, आगे कुछ प्रवृत्तियाँ न करते हों, ऐसा भी नहीं है, किन्तु इस मिथ्यात्व भावके दृढ़तर संस्कारसे परद्रव्यको ही कल्पनामें रोज-रोज ग्रहण कर रहे हैं।

परमार्थ चोरीका कुपरिणाम—आत्माका आत्माके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। उसमें यह मेरा है यह जबर्दस्ती करना चोरी है। इस चोरीके परिणामसे ही कर्म न्यायाधीशके निमित्तसे ८४ लाख योनियोंमें दंड भोगना पड़ रहा है, शरीरकी कैदमें रहना पड़ रहा है। सर्वविपदावोंका मूल मोहभाव है, परको अपना बनानेकी बुद्धिरूप डकैती है तथा सर्वशान्ति का मूल मोहसे विपरीत यथार्थ आत्मतत्त्वकी प्रतीति है। इस आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके बिना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यह जीव स्वयं ज्ञानसुखका भण्डार होते हुए भी अज्ञानवश बाह्य अर्थोंसे ज्ञान व सुख चाहता फिरता है, इसी कारण महासंक्लेश सहता है। बाह्य अर्थोंसे ज्ञान व सुख चाहना बाह्य अर्थों को अपना मानना है। सो यह बहिरात्मा इष्टविषयोंमें राग और अनिष्ट अर्थोंमें द्वेषको करके क्षोभको प्राप्त होता रहता है। ये वस्तुयें स्वयं न इष्ट हैं, न अनिष्ट हैं, किन्तु हत्यारी इन्द्रियोंके विषयके वशसे पदार्थोंमें दो तरहका भाव मोहीने बना लिया है। जो इन्द्रिय द्वारसे इष्ट है उसे इष्ट कल्पित किया गया और जो इन्द्रियद्वारसे अनिष्ट है उसे अनिष्ट कल्पित किया गया। जैसे पुलका बाँध एक है यदि वह बड़े वेगसे बहते हुए जलके भारके वेगसे आहत हो जाय तो वह बाँध दो रूपसे विदीर्यमाण हो जाता है। इसी तरह पदार्थ अद्वैत है, जैसा है सो है, उसमें इष्ट अनिष्टपनका भावरूप द्वैत नहीं है किन्तु मोहके वेगका पदार्थोंमें जब घात होता है अर्थात् मोहका प्रहार होता है तब मोहके विषयभूत पदार्थ दो तरह अनुभूत होते हैं, कोई इष्ट कोई अनिष्ट, अथवा यह आत्मा दो प्रकारसे विदार दिया गया—१. रागभावरूप, २. द्वेषभावरूप। क्योंकि पदार्थ तो विदारा नहीं जाता यह आत्मा ही दो भावरूप हो जाता है। इस तरह बहुत संक्लेश क्षोभको प्राप्त होता है। अतः मोहके स्वभावको जानकर भूमिकावोंकी पहिचान करना चाहिये कि मोह—मोह, राग, द्वेषके भेदसे तीन भूमिका वाला है। इनमें मोह तो मूल है उससे राग, द्वेषकी पुष्टि है। यह मोह तो दर्शनमोहके विपाकको निमित्त पाकर प्रादुर्भूत होता है और द्वेष, क्रोध, मान, अरति, शोक, भय व जुगुप्साके विपाकको निमित्त पाकर प्रादुर्भूत होता है, तथा द्वेष, राग माया, लोभ, हास्य, रति व वेदके विपाकको निमित्तमात्र पाकर प्रादुर्भूत होता है। इन सबके विनाशका उपाय भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान स्वभाव विभावकी परख से होता है। स्वभावकी परख अरहंत की द्रव्य गुण पर्यायके जाननसे होती है।

यहाँ यह जानना कि जो त्रिभूमिक मोहमें पड़े हैं, वे दान, पूजा, सत्कारके योग्य नहीं किन्तु दयाके पात्र हैं और जो त्रिभूमिक मोहसे उठ गये हैं, निज शुद्धात्मरुचिरूप सम्यग्दर्शन से स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञानसे निर्मल निश्चल निजात्मानुभूतिरूप सम्यक्चारित्रसे विभूषित हैं, और व्यवहार मोक्षमार्गके पथिक हैं, वे दान, पूजा, सत्कारके योग्य हैं तथा जो अत्यन्त निर्मल हो गये हैं वे स्वभावसे एकमेक किये जानेकी शैलीसे निरन्तर उपासनीय, आराधनीय हैं। इस तरह जिनके विनाशसे शुद्धावस्था होती है, उस त्रैभूमिक मोहका वर्जन हुआ।

मोहविनाशका आसूत्रण—अब मोहको अनिष्टका कारणपना बता करके मोहके विनाश को आसूत्रित करते हैं—अनिष्ट कार्य आकुलता है, क्योंकि जीवकी और कितनी ही अवस्थायें हों, चाहे परिस्पंद हो, ज्ञान कम हो, कितनी ही बातें हों वह सब अनिष्ट नहीं है, एक आकुलता ही अनिष्ट है। उसका कारण मोहभाव ही है। अपने कार्य अपनेसे भिन्न क्षेत्रमें नहीं हैं, अन्य द्रव्यमें नहीं हैं, परकीयपरिणतिमें नहीं हैं, परकीय गुणोंमें नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य

Version 1

स्वतःसिद्ध अखण्ड परिपूर्ण सत् है। अतः ऐसे कार्य मेरे गुणोंकी ही परिणतियाँ हैं, उनमें जो आकुलतामय हैं, वे अनिष्ट हैं और जो अनाकुलताके उन्मुख हैं, वे अभीष्ट हैं। उनका कारणपना साधकतमत्व निश्चयतः उस कालके भावमें है। आकुलताका कारणपना मोहभावमें है, अतः मोहके विनाशका उपदेश करते हैं।

मोहेणव रागेणव दोसेणव परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइ दव्वा ॥८४॥

मोह रागद्वेषके क्षपणमें हित—मोह व राग व द्वेषसे परिणत हुए जीवके नाना प्रकारका बंध होता है। इस कारण वे अर्थात् मोह रागद्वेष क्षपित कर दिये जाने चाहियें। आत्मा एकाकी है, उसका सुख दुःख उसके उत्तरदायित्व पर है। मोह रागद्वेषके समय जीव की परिणति परलक्ष्यपूर्वक होती है, परलक्ष्यमें कर्मबंध होता ही रहता है। कर्मबंध एकान्त अनिष्ट है। अहो! जब मेरा कहीं कुछ नहीं, सुख दुःखका भी कोई सहाई नहीं तब परलक्ष्य-कृत विकल्पोंसे मेरा क्या भला है? मैं तो निज स्वभावमें लीन रहूं। स्वभावका विकास स्वाधीन है, मधुर शांतिप्रद है। इससे विपरीत विभाव (मोह रागद्वेष) का स्वभाव पराधीन है, निमित्ताधीन संयोगाधीन दृष्टिमें है, कटु और अशांतिप्रद है, जो द्रव्य, गुण, पर्यायमें यथार्थ स्वरूपकी प्रतीति नहीं करता है, परस्पर किसीसे सम्पर्क मानता है। ऐसे उस विवेकज्ञानसे रहित बहिरात्माके नाना प्रकारका बंधन होता है।

बन्धनके कारणपर एक दृष्टान्त—जैसे बनमें हस्ती पकड़नेका वह उपाय किया जाता है कि पकड़ने वाला एक छोटी खाई खोदता है, उसपर कागज बिछाकर कागजकी झूठी हस्तिनी बनाता है और एक ओर झूठा हस्ती बनाता है, जो हस्तिनीकी ओर दौड़ता हुआ चित्र वाला होता है। वहाँ बनके हस्तीको मोह, राग, द्वेषकी इस प्रकरणमें कैसी परिणति है इसका वर्णन करते हैं—प्रथम तो उसे यथार्थताका ज्ञान नहीं है, तृणपटलकर आछन्न झूठी हथिनीको सत्य हथिनी समझता है और उसके शरीरमें आसक्त हो जाता है। यह हाथीके मोहभावकी परिणति है, क्योंकि मोहमें दो बातें होती हैं—१. यथार्थताका अज्ञान, २. गृद्धता। हाथीको उस गड्ढेका यथार्थ बोध नहीं है और यथार्थज्ञानके अभावमें परमें आत्महितकी बुद्धि हो जानेसे गृद्धता हो गई है, वह मोह है। गृद्धता रागका रूप है, उसीमें राग है, उसकी तीव्रता का बल देने वाला मोह है। जो करेणु कुट्टिनीमें बनहस्तीका राग है, प्रेम है, वह रागपरिणति है तथा दौड़ते हुए दूसरे हस्तीको देखकर उससे द्वेष हुआ, कहीं यह पहिले न आ जाय, यह द्वेष हुआ। इन तीनों मोहकी भूमिकाओंमें चलने वाले हस्तीके बंधन हो जाता है अर्थात् हस्ती उस गड्ढेपर आकर प्रवृत्ति करता है और गिर जाता है, गिरनेके बाद वह निःशक्त होता हुआ बंधनमें कर लिया जाता है। वस्तुतः बंधन तो उसका तब ही से है, जब मोह रागका प्रवाह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हुआ। फिर गड्ढेके बंधनमें आया और पुनः पकड़ने वालेके आधीन हो गया।

बन्धनका कारण मोह, राग, द्वेष—इसी प्रकार इस जीवकी भी व्यवस्था है। बहिरात्माको द्रव्य, गुण, पर्यायका यथार्थज्ञान नहीं है। निज द्रव्यको निज, अन्य सबको पर, निज शक्तिको निज, अन्य सर्व शक्ति पर, निज परिणति उस कालमें निज व्यक्ति, अन्य परिणति सब पर–इस प्रकार स्वतंत्रताकी प्रतीतिके विरुद्ध पराधीन स्वरूप मानना मूढ़ता है। इस ही मूढ़ता के कारण बहिरात्माके रागमें तीव्रता रहती है, वह पर्यायको ही निजवस्तु मानता है, अनित्य क्षणिक परिणतियोंको निज स्वभावरूप मानता है। यह बहिरात्माकी मोहपरिणति है। इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थोंमें प्रेम होता है, और इसीके लिये अनवरत प्रयत्न करता रहता है, यह है बहिरात्माका राग। निजमें सुखका सम्बंध नहीं, ऐसे झूठे कल्पित मिथ्यारूप सुखाश्रय पदार्थोंके सम्बंधमें जुड़ता है। यह उसका राग है, इसमें मोहका प्रबल बल है। उस माने हुए सुखविषयोंमें कोई बाधा देवे तब उस बाधकको द्वेषी समझकर उससे द्वेष करता है। इस प्रकार तीन भूमिकावोंमें स्थित मोहके वश होकर जीवके नाना प्रकारका बंध होता है। वस्तुतः शुभोपयोग और अशुभोपयोग ही बंधन है, शुद्धोपयोग मोक्ष है। शुद्धोपयोगके बलसे जीवप्रदेश और कर्मप्रदेशोंका अत्यंत वियोग हो जाता है। द्रव्य मोक्ष है। इन दोनों प्रकारसे मोक्षसे विपरीत लक्षण वाला वह बंध है। बंध तारक आदि दुःखोंका कारण है। इस आत्माका स्वभाव स्वयं सुख और ज्ञानसे परिपूर्ण है, फिर भी अपनी असावधानीसे अपनी महत्ताको भूलकर दुःखका पात्र हो रहा है। यह बंध ही सर्वदुःखोंका मूल है।

विकारक्षपणका मूल उपाय चित्स्वभावावलम्बन—इसलिये मोक्ष चाहने वाले जीवों को अर्थात् संसारके दुःखोंसे छूटनेकी इच्छा करने वाले जीवोंको इन मोह, राग, द्वेषोंको भले प्रकार, जैसे निर्मूल हो जायें वैसे कसकर नष्ट कर देने चाहियें। मोहभाव तो अन्तर्मुहूर्तमें कस कसकर स्थिति अनुभाग घात संक्रमण आदि विधियोंसे नष्ट किया जाता है तथा रागद्वेष स्थूलतया सम्यक्त्वकाल तक छद्मस्थ अवस्थामें नष्ट किया जाता है, और सूक्ष्मतया अनिवृत्तिकरण परिणामों द्वारा अन्तर्मुहूर्तमें (कई अन्तर्मुहूर्त जिसमें गर्भित हैं) संक्रमण स्थिति घात अनुभाग गति आदि विधियोंसे कस-कसकर नष्ट कर दिया जाता है। यह भाव रागभाव द्वेषके निमित्तभूत द्रव्यराग, द्रव्यद्वेषकी क्षयकी प्रक्रिया है, इसीके अनुरूप भावराग व भावद्वेष भी नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार सत्याभिलाषियोंको रागद्वेषका क्षय कर देना चाहिये। रागद्वेषके क्षयका प्रधान मूल उपाय यह है कि वर्तमानमें उदित विभावोंसे भिन्न स्वरूप वाले निज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि रखें। यही किया जा सकता है, यही करने योग्य है।

मोह रागद्वेषके लक्षणोंके प्रदर्शनका संकल्प—अब इन मोह रागद्वेषको पहिचाननेके प्रधान चिह्न बतलाते हैं। जिनसे मोह रागद्वेषको पहिचानकर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चाहिये। सर्व प्रथम तो जो अहित है, जिससे मुक्त होता, उसकी पहिचान आवश्यक है। उसे पहिचानकर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिये। मोह रागद्वेष उत्पन्न होनेके बाद इनकी परम्परामें ये बने रहते हैं तब इनका स्थान बन जाता है तथा उत्पन्न होते ही यदि शीघ्र नष्ट कर दिये जायें तब संस्कारके अभावसे ये क्षयको प्राप्त हो जाते हैं। इस कारण आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव मोह रागद्वेषके क्षयके प्रयोजनके अर्थ इनके चिह्नोंको बताते हैं—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु अप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥८५॥

मोह, राग, द्वेषके चिह्न—समस्त पदार्थ यद्यपि स्वतंत्र अपने अखंड सत्में स्थित हैं तब भी विपरीत अभिप्रायवश परतन्त्र दृष्टिसे अयथार्थ ग्रहण करना तथा उपेक्षायोग्य होनेपर भी तिर्यंच मनुष्योंमें दयापरिणाम, आत्मीयपरिणाम अथवा दयाका अभावरूप परिणाम—ये सब दर्शनमोहके चिह्न हैं तथा इष्टविषयोंमें प्रीतिरूप परिणाम रागभावका चिह्न है और अनिष्टविषयोंमें अप्रीतिरूप परिणाम द्वेषभावका चिह्न है।

दर्शनमोहके चिह्नका विवरण—दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यात्वभाव है, जिससे वस्तुके स्वरूपसे विरुद्ध स्वरूपका ग्रहण होता है। वस्तु अनादि अनंत स्वतंत्र अखंड है, किन्तु मिथ्या-दृष्टि अनादि न समझकर पर्यायदृष्टि ही सर्वस्व रखनेसे सर्वथा सादि प्रतीत होता है, अनंतकी प्रतीतिकी जगह सान्त प्रतीत होता है। स्वतंत्रके स्थानमें संयोगाधीन दृष्टिसे परतंत्र देखता है। अखंडके स्थानमें खंड पर्यायमात्र देखता है। यह अर्थके विषयमें अयथार्थ ग्रहण मिथ्यात्वके उदयमें होता है। अतः ऐसी बुद्धि होना दर्शनमोहका चिह्न है। इसी तरह जिनमें ममत्व है, ऐसे तिर्यञ्च मनुष्योंमें प्रीति करुणाका विशेष हो, यह भी दर्शनमोहका चिह्न है। जगतके समस्त जीव पर होनेसे उपेक्षाके योग्य हैं, किन्तु मोही जीवका जिनमें ममत्व रहता है उनमें विशेष प्रीति पैदा होती है तथा उनके कष्ट आदि आनेपर तीव्र अनुकम्पाका भाव उत्पन्न होता है, यह सब दर्शनमोहका चिह्न है। मिथ्यात्वके उदयमें अत्यन्ताभाव वाले पर चेतन अचेतन पदार्थोंमें आत्मीयताकी कल्पना होनेपर उन पदार्थोंकी क्षतिमें महान् संक्लेश-अनुकम्पन करता है, यह दर्शनमोहका चिह्न है। क्योंकि इस वातावरणका मूल दृष्टिकी भूल है। इस मोहके संस्कारके वेगसे पदार्थोंके सम्बंधमें दो प्रकारकी धारणा हो जाती है। तो जो विषय रुच गये, उनमें प्रीति पैदा होती है, और दूसरे जो अरुचित हुए उनमें द्वेष पैदा हो जाता है। यहाँ करुणाभाव शब्द दिया है। जिसकी संधि तोड़नेपर करुणा-अभाव अर्थात् तिर्यंच मनुष्योंपर करुणाका अभाव होना, यह अर्थ निकलता है, यह दर्शनमोहका चिह्न है। इस मोही जीवके करुणा करनेपर या करुणाके विपरीत होनेपर उस परिणामरूप पर्यायसे भिन्न ध्रुव ज्ञानमात्र निज आत्मतत्त्वका श्रद्धान नहीं है, इसी कारण यह दर्शनमोहका चिह्न है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

रागद्वेषके चिह्नोंका वर्णन—विषयोंके स॰ अर्थात् प्रकर्षरूपसे सङ्गमें भी यही बात है। इष्टविषयोंको रुच जाना राग है, और अनिष्टविषयोंकी अरुचि द्वेष है तथापि उस काल में उस पर्यायस्वरूपसे पृथक् स्वभावमय निज आत्मशक्तिका श्रद्धान होनेसे पर्यायदृष्टि हो जाती है, वहां वह रागद्वेष चरित्र मोह है। पुनरपि दर्शनमोहका चिह्न हो जाता है। दर्शनमोहकी शल्य विकट शल्य है। इस शल्यमें व्रतके भाव नहीं ठहर सकते। व्रत आदि पालन करते हुए भी कोई अतिचार हो जावे तो उस साधारण अतिचार भावके अप्रकट बने रहनेकी शल्यमें अन्य प्रवृत्तियां लोकविरुद्ध कर देनी पड़ती हैं तथा चित्तमें संक्लेश रहता है। यहां यह दृष्टि मोह है कि हमारी इतनी बड़ी प्रतिष्ठा है। इसमें यह न जाने लोकोंकी दृष्टिमें कितना बड़ा रूप धारण कर लेवे और प्रतिष्ठा समाप्त हो जावे।

राग, द्वेष, मोहके क्षपणका कर्तव्य—यहाँ पर्यायको ध्रुव आत्मा बना देनेकी दृष्टि मोह है। संसार दुःखोंका मूल केवल भ्रम है, दृष्टि मोह है। दृष्टि मोहके संस्कारवश दृष्टि मोहके रहते हुए या न रहते हुए जो वृत्तियां रह जाती हैं वे राग और द्वेष हैं। हाँ इतना अन्तर अवश्य है कि दृष्टिमोहके क्षय हो जानेपर राग, द्वेष जल्दी ही समूल नष्ट हो जाते हैं। यहां इन चिह्नोंसे पहिचान करनेका प्रयोजन इन सबको दूर करना मात्र है। मोह राग द्वेषको मिटा देना इनकी पहिचानका प्रयोजन है। शरीर मैं हूं, स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं, धन वैभव मेरा है, मैं अन्यको सुखी दुःखी कर सकता हूँ, शुभ रागसे वीतरागता हो जावेगी आदि दृष्टियां दृष्टिमोहके चिह्न हैं। आत्मसमाधानका चिन्तन रहते हुए भी कर्मोंके विपाककी प्रेरणासे इष्ट अनिष्ट परिणाम होना मिथ्यात्व रहित राग द्वेष है और आत्मभावके बिना इन्हीं परिणामों रूप आत्मबुद्धिका बना रहना मिथ्यात्व सहित राग द्वेष है। इन्हें पहिचान पहिचान करके नष्ट करो। जैसे लोकमें कहते हैं कि शत्रुका एक व्यक्ति बना रहना भी खतरा है, अतः शत्रुको पहिचान पहिचानकर मारो। इसी प्रकार यहां परमार्थ प्रकरणमें भी कहते हैं कि आत्माके शत्रुस्वरूप मोह, राग, द्वेष भावोंको पहिचान पहिचान करके मारो। इस तरह पूर्व गाथामें कहे हुए त्रिभूमिक मोहको स्थूलव्यवहारकी प्रवृत्तियोंसे पहिचान कराकर आचार्य महाराज इस त्रिभूमिक मोहके विनाशका उपदेश देते हैं अर्थात् विनाशका विनाश अथवा अविनाश रहनेका उपदेश देते हैं। इन राग, द्वेष, मोहके परिज्ञानके अनंतर ही इनके विनाशका उपाय बनता है। वह उपाय राग, द्वेष, मोहसे पृथक् ज्ञाताद्रष्टारूप निज आत्मा की भावना है उस उपयोगसे परिणत होता है।

इस प्रकार द्रव्य, गुण, पर्यायकी शैलीसे अरहंत प्रभुके ज्ञानको मोहक्षयका उपाय बता कर अब मोक्षक्षयका उपायान्तर बताते हैं—उपायान्तरको आलोचित करते हैं। यहाँ आलोचनासे प्रयोजन अपने ज्ञानमें उतरी हुई बातको प्रकट करनेसे है। वह मोह क्षपणका उपाया-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

न्तर यह है—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥८६॥

मोहक्षयके उपायमें जिनशास्त्राभ्यास—जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित शास्त्रोंसे पदार्थोंको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जानने वाले जीवके विपरीत अभिप्रायको करने वाले मोहका क्षय हो जाता है, अतः शास्त्रोंका भले प्रकार अध्ययन करना चाहिये। इस अवसरमें पहिले मोहक्षयका उपाय द्रव्य गुण पर्यायसे अरहंतको जानना बताया था। यहाँ अब यह दूसरा उपाय शास्त्र-अध्ययन बताया जा रहा है। अथवा यह समझना चाहिये कि पूर्व उपाय इस उपायकी अपेक्षा करता है क्योंकि सबसे पहिले कुछ ज्ञान करना आवश्यक है, उसका साधन जिनशास्त्र है। जिनशास्त्रका अध्ययन करने वाला भव्य उसको वाच्यभूत अर्थोंको जानकर उसमें भी आत्म-तत्त्वको जानकर वह भी द्रव्य गुणसे जैसे शुद्ध है वैसे पर्यायसे भी शुद्ध हो, उसे जानकर अपने ज्ञानोपयोग की निर्मलता द्वारा मोहका विनाश कर लेता है। क्योंकि जो जीव पहिले पहिले ही ज्ञानमार्गमें कदम रखनेको होता है, उसको जिनशास्त्रका आलम्बन ही आलम्बन बन जाता है। वे जिनशास्त्र सर्वज्ञके मूलसे प्रवाहित हुए हैं, अतः प्रमाणभूत हैं, यथार्थ हैं। इसका परी-क्षण इस विज्ञानसे हो जाता है कि जिनसिद्धांतमें कहीं भी बाधा नहीं आती है। जो वैज्ञानिक विषय है, वह विज्ञानसे सही उतरता है। जो स्वसंवेदनका विषय है, स्वसंवेदनसे यथार्थ उतरता है। ऐसे अबाधित प्रमाणभूत आगमको प्रमाण मानकर भव्यजीव निजक्रीड़ा करते हैं परलक्ष्य छोड़कर निजदृष्टिसे विहार करते हैं। उनके उस जिनशास्त्राभ्यासके संस्कारसे स्व-संवेदन शक्तिरूप संपदा प्रकट होती है जिसके बलसे शुद्धात्मसंवेदनमें सफल होता है।

शान्तिसंपदामें शास्त्राध्ययनका प्रधान सहयोग—जीवकी सम्पदा स्वसंवेदन शक्तिकी व्यक्ति ही है। जो प्रकट भिन्न हैं, अत्यन्ताभाव वाले हैं, वह संपदा तो क्या परलक्ष्यका विषय-भूत होनेसे आकुलतारूप विपदाका निमित्त होनेसे विपदा ही है। मोहके वेगमें विपदा भी संपदा मान ली जाती है और यथार्थ संपदाकी खबर भी नहीं रहती। जिन जीवोंके स्वसंवेदन रूप संपदाका विकास होता है उनके प्रत्यक्ष व अनुभवादि द्वारा पदार्थके यथातथ्यका विज्ञान हो जाता है। यहाँ जिस परपदार्थका विज्ञान हुआ वह कहीं आनंददायक नहीं, किन्तु जिस अभिन्न ज्ञानशक्तिके विकाससे ज्ञप्ति हुई वह विकास आनंद देने वाला है। मोक्षमार्ग सहृदय विवेकी जनोंको ही रुचता है। विद्वज्जनोंके चित्तको आनंद देने वाला ज्ञानमार्ग है. ऐसे इस प्रमाण समूहसे भव्यजीव समस्त पदार्थ समूहको जानते हैं और ऐसे ज्ञानीके ही अंतस्तत्त्व विपरीत अभिप्रायके पोषक मोहभावका क्षय होता है। इससे यह प्रकट सिद्ध है कि मुमुक्षु को शान्त्यभिलाषीको सर्वप्रथम आगमकी उपासना करनी चाहिये। शास्त्राध्ययनके बिना एव-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

दम द्रव्य गुण पर्यायको अथवा शुद्धद्रव्यको कैसे जानेगा ? शास्त्राभ्यास करने वाले के कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है । शुद्धोपयोगकी पहुंच मोहके विनाशका यथार्थ उपाय है । अरहंतदेवकी भक्तिके समय भी जो वीतरागताकी पहुंच है वह तो निर्जराका उपाय है, किन्तु जो परलक्ष्य अथबा भक्तिरूप शुभराग है वह पुण्यकर्म शुभ ही कर्म बंधका निमित्त है ।

शास्त्राभ्यास और प्रभुपरिचयमें मोहक्षयहेतुताकी पूर्वापरता—यहाँ प्रश्न होता है कि पहिला उपाय तो शास्त्राध्ययन बताते, जो मात्र ज्ञप्तिकी विशेषता होनेसे निर्जराका कारण है । उसके पश्चात् दूसरा उपाय उत्पन्न होता है, जो अरहंतको द्रव्य, गुण, पर्यायसे जानना ही सही परलक्ष्य अथवा भक्तिरूप होता है, ऐसा विषम नम्बर कैसा ? इसका समाधान यह है कि कर्मनिर्जराकी बात तो साधककी योग्यतापर निर्भर है—कहो शास्त्र स्वाध्याय करता हो व उद्देश्य विपरीत रखता हो वाद आदिक प्रयोजन हो तब निर्जरा क्या उल्टा पापका कारण हो जाय और अर्हद्भक्तिमें गुणोंपर ही दृष्टि होनेसे द्वेषदृष्टि, विषय, कषाय आदि अनेक अशुभोपयोग दूर हो जाते हैं, वहाँ कर्मनिर्जरा हो जाय । बहुधा शास्त्रस्वाध्याय इष्ट अनिष्ट बुद्धिसे रहित होकर हो तो वह कर्मनिर्जराका विशेष कारण है, परन्तु पहिले ही पहिले जो मोक्षमार्गमें कदम रखना चाहता है उसे शास्त्रज्ञान तो कुछ चाहिये ही । अतः द्रव्य, गुण, पर्यायसे अरहंतको जाननेरूप मोह क्षपणके उपायसे प्रथम उपाय भले प्रकार शास्त्रका अध्ययन—शब्द ब्रह्मका उपासन है । भावज्ञान पूर्वक दृढ़ विश्वास अध्ययन अवश्य मोहक्षयको कर देता है ।

स्वसंचेतन बलसे मोहक्षयकी अवश्यंभाविता—जब यह भव्य जीव सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्रणीत शास्त्रोंके अध्ययनसे यह जानता है कि मैं रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित चैतन्यमय एक अकेला अविनाशी आत्मा मानसप्रत्यक्षमुखसे हूं, तदनन्तर इस ही भावनाके विशेष अभ्यास के बलसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष बलसे इस ही आत्माका संवेदन करता है, पुनः जो शुद्ध निरञ्जन हो गये हैं ऐसे अरहंत भगवानको द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्वसे जानकर अपनी समानता पहिचानते हैं, वे भव्यजीव अवश्य मोहके क्षयको करते हैं । मोहक्षयसे आत्मविशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़कर अंतमें अन्तिम पाकपर उतरे हुए सुवर्णकी भाँति निर्मल हो जाते हैं । आत्मनिर्मलता ही सर्वोत्कृष्ट वैभव है । इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमय मोक्षमार्गके प्रवेशके अर्थ मोक्षार्थीको आगमका अभ्यास करना चाहिये । आगमाभ्यास अध्यात्मविकासके अर्थ हैं । प्रत्येक ज्ञानके साथ आत्महितका विवेक बना रहे, ये तो आगमाभ्यासीको आगमाभ्यास प्रयोजनवान है ।

आगम प्रकरणोंसे हितशिक्षाका ग्रहण—तीन लोककी रचना सुनकर भव्यजीव सोचता है कि अहो ! आत्मोपलब्धिके बिना ऐसे विविध स्थानोंमें जन्म मरणके क्लेश सहे । जीवोंकी अवगाहनाका प्ररूपण सुनकर सोचता है कि स्वात्मस्थितिके बिना सर्व दुःखोंके कारणरूप

Version 1

शरीरपिशाचको इस इस प्रकार लिये लिये रहना पड़ता। कर्मस्थिति अनुभाग प्रकृति आदि वर्णनोंसे वह परकी ओर न झुककर आत्माकी ओर झुकता है कि अहो! स्वच्छ ज्ञातृत्वमात्र निजस्वभावमें स्थैर्य न होनेसे निमित्तनैमित्तिक भावके फलस्वरूप कार्माणवर्गणाओंमें इस प्रकार स्थिति अनुभाग आदि हो जाते हैं, जो आत्माके एकक्षेत्रावगाहमें बद्ध रहते हैं। शुद्ध परमात्मा का वर्णन सुनकर भव्यजीव यह निश्चय करता है कि अहो! ऐसा ही मेरा स्वरूप है, विपरीत भावके समय भी स्वभाव तो ऐसा ही स्वच्छ ज्ञातामात्र है, वह कषाय परिणामोंसे मात्र तिरस्कृत है। आगमज्ञान द्वारा समस्त पदार्थोंको भव्य जैसी जिनकी सत्ता है, उसी प्रकार जानता रहता है। किसी अर्थकी किसी अर्थके साथ एकता नहीं समझता। उसे दृढ़ धारणा है कि समस्त जातीय पदार्थ एक क्षेत्रमें रहकर भी वे सब अपनी-अपनी व्यक्तियोंमें सत्त्व रखते हैं, अन्य व्यक्तियोंमें नहीं। इसी प्रकार वस्तुस्वातन्त्र्य, निजाभिमुखता, परोपेक्षा आदि सर्व भावोंकी दृढ़ता पोषने वाला यह आगमाभ्यास भव्यजीवोंको नियमसे करना चाहिये।

यह मोहक्षयका उपायान्तर श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराजने प्रदर्शित किया। अब जिस आगमाभ्यासके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराजका आदेश हुआ है उस जिनेन्द्रप्रणीत शब्दब्रह्म अर्थात् आगममें पदार्थोंकी कैसी व्यवस्था है? इस बातका वितर्कण करते हैं—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्वत्ति उवदेसो ॥८७॥

अर्थका अर्थ—इस गाथाकी उत्थानिकामें पूछा गया था कि भगवत आगममें अर्थोंकी कैसी व्यवस्था है? इन अर्थोंके विषयमें उत्तर देते हुए कहते हैं कि यहाँ अर्थ शब्दसे द्रव्य, गुण, पर्याय तीनोंका ग्रहण हो जाता है, क्योंकि इन तीनोंकी "अर्थ" संज्ञा है। इन तीनोंमें से द्रव्य क्या चीज है? सो कहते हैं कि गुण और पर्यायोंका जो आत्मा है अर्थात् सर्वस्व है, या स्वभाव है, वह द्रव्य है। यद्यपि वहाँ द्रव्य, गुण, पर्याय ये अभिधेय अपना-अपना जुदा स्वलक्षण रखते हैं तथापि जैसे इनकी सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं हैं, वैसे ही इनका अभिधान भी एक "अर्थ" है। जैसे उस सत्को भिन्न दृष्टियोंसे देखनेपर द्रव्य, गुण, पर्यायके रूपमें प्रतीत होता है वैसे ही अर्थ शब्दका व्युत्पत्तिभेद करनेपर किसी अर्थसे द्रव्यका, किसी अर्थसे गुणका, किसी अर्थसे पर्यायका बोध होता है। अब इस ही बातको स्पष्ट करते हैं। अर्थ शब्द जुहोत्यादिगणीय ऋ धातुसे निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ प्राप्त करना व आश्रय करना है। इस धातुके कर्तृवाच्य में लट् लकारके अन्य पुरुषमें ऐसे रूप होते हैं—इयर्ति, इयृतः, इय्रति तथा कर्मवाच्यमें रूप होते हैं—अर्यते, अर्येते, अर्यंते। ऐसे रूपोंको बताकर इनका उपयोग करते हैं—यानि गुणपर्यायान् इयृति अथवा यानि गुणपर्यायैः अर्यन्ते तानि द्रव्याणीति अर्थः। जो गुण पर्यायोंको प्राप्त हों, आश्रित करें सो अर्थ है, अथवा जो गुण पर्यायों द्वारा प्राप्त किये जायें, आश्रय किये जावें सो अर्थ है। इस अर्थमें द्रव्य सहित लिये गये हैं। गुण पर्यायोंको पहुंचाने वाला द्रव्यो हती है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अर्थ शब्दसे द्रव्यका ग्रहण—यहाँ इस प्रकरणमें यह बात जाननी चाहिये कि द्रव्य एक अखण्ड पूर्ण सत् होता है और वह प्रतिसमय वर्तना करता है। जो प्रतिसमयकी वर्तना है, वह पर्याय है चीज और चीजकी हालत। वे हालतें प्रतिनियत ही होती हैं, अनियत नहीं, एक दूसरे द्रव्यमें संकर दोष नहीं लाते। इसका कारण द्रव्यका स्वयंका स्वभाव है, स्वभावको ही गुण कहते हैं। हालतें-पर्यायें जितने प्रकारसे होते हैं, उतनी ही शक्ति या स्वभाव होते हैं, इस तरह द्रव्य गुण, पर्यायोंसे भिन्न नहीं है। तब गुण पर्यायोंसे जुदा द्रव्य क्या होगा? इसलिये जो एकात्मक ध्रुव गुण, पर्यायोंका स्वभावान् है वह द्रव्य है। इसका फलितार्थ यह हुआ—जो गुण, पर्यायोंको प्राप्त हो, वह द्रव्य है अथवा गुण अन्य क्या हैं? एक अखण्ड सत् में अखण्ड सत्को परखनेके लिये मानित शक्तियाँ तथा पर्याय क्या हैं? उनकी वर्तमान अवस्था। वह अखण्ड एक सत् गुण पर्यायों द्वारा जाना जाता है—आश्रित है, प्राप्त है। अतः उक्त व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थ नाम द्रव्यका है।

अर्थ शब्दसे गुणका ग्रहण—अब आगे गुण कैसे अर्थ नाम संज्ञित है, इसे कहते हैं—ये द्रव्याणि आश्रयत्वेन इयृति अथवा ये आश्रयभूतैः द्रव्यैः अर्यन्ते इति अर्थाः गुणाः। जो द्रव्योंको आश्रयरूपसे प्राप्त करते हैं अथवा आश्रयभूत द्रव्योंके द्वारा जो आश्रयरूप होते हैं, प्राप्त होते हैं वे अर्थ हैं, इस अर्थमें अर्थ अभिधानसे गुण अभिधेय हुआ। गुण द्रव्यके आश्रय है, क्योंकि अखण्ड एक सत्में स्वभाव परखा गया है।

अर्थ शब्दसे पर्यायका ग्रहण—अब पर्यायोंके सम्बंधमें अर्थसंज्ञापर विचार करते हैं। ये द्रव्याणि क्रमपरिणामेन इयृति अथवा ये द्रव्यैः क्रमपरिणामेन अर्यंते ते अर्थाः पर्याया इति यावत्। जो द्रव्योंको क्रम परिणमनसे आश्रय करें वे अर्थ हैं अथवा जो द्रव्योंके द्वारा क्रम परिणमनसे प्राप्त किये जावें वे अर्थ हैं। इस व्युत्पत्तिसे अर्थ अभिधानसे पर्याय अभिधेय गृहीत किया। द्रव्योंमें परिणमन निरन्तर होते हैं और प्रत्येक परिणमन एक समय रहते हैं। अन्य समयमें अन्य परिणमन होता है, पूर्ण परिणमन द्रव्यमें विलीन हो जाता है। इस तरह क्रम परिणमनोंसे पर्यायोंने द्रव्यका आश्रय किया। अतः पर्याय भी अर्थ है।

अर्थकी व्युत्पत्तिमें दृष्टान्तपूर्वक द्रव्य, गुण पर्यायका विवेचन—जैसे सुवर्ण पीतत्व आदि गुणोंको और कुण्डल आदि पर्यायोंको प्राप्त होता है अथवा पीतत्व आदि गुणोंके द्वारा व कुण्डलादि पर्यायोंके द्वारा द्रव्य आश्रयभूत किया जाता है इसी तरह द्रव्य गुणों व पर्यायोंको प्राप्त होता है व गुण पर्यायोंके द्वारा द्रव्य आश्रयभूत किया जाता है। इस दृष्टान्तमें सुवर्ण द्रव्यकी जगह समझना तथा जैसे पीतत्वादिक गुण सुवर्णको आश्रयरूपसे प्राप्त करते हैं अथवा सुवर्णके द्वारा गुण आश्रियमाण हैं, वैसे ही गुण द्रव्यको आश्रयरूपसे प्राप्त होते है अथवा द्रव्यके द्वारा गुण आश्रियमाण हैं। इस दृष्टान्तमें पीतत्वादिक गुणके स्थानपर हैं तथा जैसे सुवर्ण

Version-1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लादिक पर्याय सुवर्णको क्रम परिणमनसे आश्रय करते हैं व सुवर्णके द्वारा कुण्डलादिक पर्याय क्रमसे आश्रियमाण हैं वैसे ही पर्यायें द्रव्यको क्रम परिणमनसे आश्रय करते हैं तथा द्रव्यके द्वारा पर्यायें क्रमसे आश्रियमाण हैं। यहाँ कुण्डलादिक पर्यायोंको पर्यायके स्थानपर समझना। यहाँ यह विचारिये कि क्या पीतत्वादिक गुण व कुण्डलादिक पर्यायें सुवर्णसे भिन्न हैं? नहीं, तो पीतत्वादिक गुण व कुण्डलादिक पर्यायोंका आत्मा ही तो सुवर्ण हुआ, यहां आत्माका तात्पर्य सर्वस्वसे है। इसी तरह विचार करें कि गुण और पर्यायोंसे पृथक् कोई द्रव्य है अथवा द्रव्यसे पृथक् कोई गुण व पर्यायें हैं? नहीं, तब गुण और पर्यायोंका आत्मा ही द्रव्य कहलाया। द्रव्य गुण पर्यायोंका निज अर्थ इस प्रकार है—१. अद्रुवन् द्रुवन्ति द्रोष्यन्ति पर्यायानिति द्रव्याणि। जिसके पर्यायोंको प्राप्त किया व जो कर रहे हैं व करते रहेंगे वे द्रव्य हैं। अभेदरूपसे वस्तु द्रव्य है, भेदरूपसे अनेक गुण हैं।

व्युत्पत्त्यनुसार व पर्यायका भाव—गुणयंते द्रव्याणि एभिस्ते गुणाः, जिनके द्वारा द्रव्य भेद रूप बने वे गुण हैं। "द्रव्यमेकमनेकात्मकम्" का भी भाव यही है—द्रव्य अभेदरूपसे एक स्वरूप है व भेददृष्टिसे नानारूप है। इसी तरह पर्यायोंको देखो—परि अयंते इति पर्यायाः, जो स्वभावके ऊपर आते हैं वे पर्यायें हैं अर्थात् जो स्वभावके परिणमन हैं, वर्तमान अवस्थारूप हैं क्षणिक हैं वे पर्यायें हैं। ये पर्यायें भी द्रव्यकी हालतें हैं, अतः द्रव्य, गुण, पर्याय ये भिन्न-भिन्न कोई सत् नहीं हैं, सो द्रव्यसे पृथक् इनकी सन्तान होने से गुण पर्यायोंका स्वभावरूप द्रव्य है। अब इस ही द्रव्य, गुण, पर्यायके विवरणको शुद्ध निश्चयनयसे आत्मतत्त्वमें घटित करते हैं—जो अनन्तज्ञानसुख आदि गुणोंको अमूर्तत्व अतीन्द्रियत्व सिद्धत्व आदि पर्यायोंको परिणमता है प्राप्त होता है वह अर्थ है। यह तो द्रव्यको संकेत करने वाला अर्थ है। यहाँ यद्यपि अनंतज्ञान अनंतसुख पर्याय है फिर भी शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे गुणोंको भी शुद्धपर्यायके अभिमुख रख कर देखा है और इसी कारण व्यञ्जन पर्यायसे अधिक सम्बन्ध रखने वाले भावोंको पर्यायके स्थानपर प्रयोग किया है। यहाँ शुद्ध आत्मद्रव्यको द्रव्यके स्थानपर कहा है। अब गुणोंका वर्णन करते हैं—जो आधारभूत शुद्ध आत्मद्रव्यको प्राप्त करें, आश्रय करें वे गुण है, जैसे निर्मलज्ञान आदिक। इसी प्रकार पर्यायोंका स्वरूप है। अन्तर मात्र इतना है कि यहाँ क्रम परिणमनकी मुख्यता रखकर सूक्ष्म दृष्टिसे क्षणिक परिणमनोंको देखना है वह हैं सभी गुणोंके सिद्धत्व पर्याय।

द्रव्य गुण पर्यायकी स्फुट परीक्षा—यहाँ द्रव्य गुण पर्यायकी परीक्षा करिये—द्रव्य अनादि अनंत अहेतुक है, इसी कारण द्रव्य स्वतन्त्र है। द्रव्यको ही भेददृष्टिसे देखनेपर गुण सिद्ध होते हैं, वे गुण भी द्रव्यके स्वभावको रखते हैं, वे भी अनादि अनंत अहेतुक हैं, अतः गुण भी स्वतन्त्र है। इसी तरह वर्तमान मात्र पर्यायको देखो तो वह सादि सान्त होकर भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निश्चयसे अहेतुक है क्योंकि विशिष्ट पर्यायका कारण द्रव्य कहो तो द्रव्य तो अनादि अनन्त एक स्वरूप है तब "कारणसदृशं कार्यं" इस नियमसे पर्याय भी अनादि अनंत एक स्वरूप हो जायगी। यदि पर्यायका कारण गुणको कहो तो गुण भी अनादि अनंत अहेतुक है सो यहाँ भी यही आपत्ति आवेगी। यदि पूर्व पर्यायको कारण कहो तो वह तो विलीन होती है तब उत्पाद कहलाता है। अभाव भावका कारण कैसे? यह एक सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी दृष्टि है। वस्तुव्यवस्थामें तो पूर्व पर्याय संयुक्त द्रव्य वर्तमान पर्यायका कारण कहा है। इस तरह द्रव्य, गुण पर्यायोंकी व्यवस्था जिनेन्द्र शब्द ब्रह्ममें है। यह जिनेन्द्र भागवत परमागम पूर्वापरविरोध रहित आप्तप्रणीत, प्रबलयुक्तिपूर्ण सर्व जगतका हितकारी है। इस परमागमका अभ्यास मोहक्षयका उपाय है। वस्तु स्वतंत्र है परस्पर पृथक् है। प्रत्येक वस्तु अपनी परिणतिसे ही परिणमती है, परकी परिणतिसे नहीं आदि सिद्धान्तोंका मनन जिस चित्तमें है उस चित्तमें मोह नहीं टहरता। अज्ञानभाव हटते ही मिथ्यात्व हट जाता है अथवा मिथ्यात्व हटते ही अज्ञान हट जाता है, दोनों बल एक साथ चल रहे हैं।

मोहक्षयके उपायके उद्यमका उपदेशन—इस प्रकार शिष्यके पहिले इस प्रश्नपर कि मोहके जीतनेका क्या उपाय है? दो उपाय बताये। यहाँ शिष्य कमजोर या अज्ञानी नहीं है। ऐसे प्रश्न करनेकी प्रबल उत्कण्ठा ज्ञानीके ही होती है। वह इस ही उत्तरको मनमें दृढ़ बनानेके अर्थ आशङ्का रूपमें प्रकट करता है। उन उपायोंका वर्णन करके अब आचार्य पुरुषार्थका व्यापार करानेकी भावनासे कहते हैं कि इस प्रकार मोहक्षयके उपायभूत जिनेन्द्रदेवके उपदेशका लाभ होनेपर भी पुरुषार्थ करना अर्थक्रियाकारी है अर्थात् जिनेन्द्रदेवके उपदेशको निमित्त करके आत्माका ज्ञान पाकरके भी जैसा आत्मस्वभाव जाना है, वैसा ही स्थैर्य प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करे तब ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप प्रयोजनकी सिद्धि है। इसलिये आचार्य महाराज पुरुषार्थ करनेका व्यापार कराते हैं तथा उद्यम करनेका उपदेश, उपाय बताते हैं—

जो मोहरागदोसे णिहणदि उबलद्ध जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥८८॥

शीघ्र संकटमुक्तिके लिये उपाय करनेका संदेश—जो जिनेन्द्रप्रणीत उपदेशको पाकर भी अर्थात् जिनेन्द्रोपदेशको निमित्त करके निज ध्रुव ज्ञायकस्वभावके लक्ष्यसे स्वानुभवको प्राप्त करके भी यदि मोह, राग, द्वेषको नष्ट करता है, वह यथाशीघ्र कालसे सर्वदुःखोंके मोक्षको प्राप्त करता है। यहाँ आचार्य महाराज अपनी भी बात दर्शाते जा रहे हैं और शिष्य भी अपनी बात सुनकर प्रमोदसे ध्यानी बन रहा है। जो स्वानुभवसे प्राप्त किया, उसके कहनेमें ऐसी दृढ़ता होती है। रागद्वेष मोहके विनाश करनेपर फिर कुछ भी विलम्ब नहीं रहता। इसलिए अचिरेण कालेन शब्दको कहकर आचार्य महाराज मानो हस्तगत मोक्षके विषयमें बात कर रहे।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं। मोक्ष छूटनेको कहते हैं। आत्मद्रव्यमें अन्य द्रव्यका न मेल है, न त्याग है। आत्मद्रव्यमें आत्मद्रव्यकी पर्यायका मेल है और उसका ही त्याग है। अन्य द्रव्य तो इस मेल व त्यागमें निमित्तमात्र है। मोह राग द्वेष पर्यायके मेलको संसार कहते हैं और मोह रागद्वेष पर्यायके विलीन होनेको मोक्ष कहते हैं। यद्यपि स्थूलपन मोहके विनाश होनेपर मोक्ष हो गया तथापि सर्व दुःखके कारण व रूप व फलोंके सर्वथा अभाव होनेकी विवक्षा यहाँ है, जिससे अचिर काल फिर भी लग जाता है, चाहे वह अन्तर्मुहूर्त ही हो अर्थात् राग द्वेष मोहका मूलक्षय जहाँ अभिप्रेत है वहाँ अनंत सुखकी प्राप्तिमें अन्तर्मुहूर्तकाल लगता है और यदि साधारणतया लोक-प्रसिद्धिके अनुसार (उपशम मंदोदय या क्षयोपशम) मोह, राग, द्वेषका हनन अभिप्रेत है वहाँ १५ भव तकका समय लग सकता है।

एकत्वविभक्तकी भावना बिना विकट संसरण—इस जीवने अनादिसे अपने इस एकत्व की कथा ही नहीं सुनी, भावना तो अनन्तरकी बात है। ऐसी अवस्थामें दुःखसे छूटनेका उपाय ही क्या होता ? अनादिसे यह जीव निगोदमें रहा, वहाँ एक स्पर्शनइन्द्रिय था, वह भी अव्यक्त-सा। एक सेकेन्डमें करीब २३ बार जन्म मरण किया, वहाँका दुःख बड़ा कठिन है। जैसे किसी सुकुमार श्रेष्ठ पुत्रको सांकलोंसे कस दिया जाय, मुंह, नाक, कान, आँख बंद कर दिये जायें, और दंड अनादिके अनेक प्रकार हों तो जिस दुःखकी वहाँ संभावना की जाती है उससे अनंत गुण दुःख निगोद जीवके हैं वहाँ जिनेन्द्रोपदेश श्रवण असम्भव ही है। कर्मोंकी मंदताको निमित्त पाकर जीव निगोदवाससे निकला, तब पृथ्वी, जल, आग, वायु प्रत्येकवनस्पति हुआ। वहाँ भी एकेन्द्रियकी ही दशा है। कुछ कर्मोंकी मंदता और हुई, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय हुआ, ये सभी कर्णहीन हैं। कर्मोंका विशेष क्षयोपशम होनेपर पंचेन्द्रिय हुआ तब असंज्ञी होनेपर लाभ ही क्या और सैनी हुए और क्रूर सिंहादिक हुए तब घोर पाप करके नरकमें जा सकता है, वहाँ नरकोंमें घोर दुःख। देवगति भी पाई तो वहाँ असंयमका संताप व परका ऐश्वर्य देखकर ईर्ष्याका ताप नहीं मिटा। मनुष्यगतिमें भी नाना भावके मनुष्य हैं। एक कल्याणकी इच्छा रखने वाला ही मनुष्य प्रशस्तमार्गका अधिकारी है।

जिनेन्द्रोपदेशका प्रताप—कल्याणेच्छुको जिनेन्द्रोपदेशका निमित्त प्राप्त होता ही है। आत्मा परमेश्वर है, वह अनादि कर्मबद्ध होनेसे वर्तमानमें मलिन है तथापि वह जैसा भाव करता है वैसा योग प्राप्त कर ही लेता है। इस प्रकार दुर्लभसे दुर्लभ जिनेन्द्रोपदेशको प्राप्त करके भी यदि तलवारकी धारके समान अमोघ इस जिनेन्द्रोपदेशको मोह, रागद्वेषके ऊपर दृढ़ता निपातन करता है तब समस्त दुःखके मोक्षको (छुटकारेको) जल्दी ही प्राप्त कर लेता है। यह जिनेन्द्रोपदेश तलवारकी धारके समान है। जैसे तलवारकी धारका पानी निष्कंप है, इसी तरह जैनेन्द्रवचन विरोध व भंग, कंपरहित है। जैसे तलवारकी धारको सावधान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अभ्यस्त ही स्पर्श कर सकता है इसी तरह जैनेन्द्रोपदेशको सावधान पुरुष ही स्पर्श कर सफल है। जैसे तलवारकी धारपर चलना कुशल व्यक्तियोंका काम है, इसी तरह जैनेन्द्रोपदेशपर चलना कुशल निकट भव्यजीवोंका काम है। जैसे तीक्ष्ण तलवारकी धारका जिस शत्रुपर निपात हो उसका विनाश हो जाता है इसी तरह जिनेन्द्रोपदेशका मोह, राग द्वेष शत्रुपर निपात हो तो मोहादिक टिक नहीं सकते, क्षय हो जाते हैं।

रागादि शत्रुओंपर ज्ञानधारका प्रहार—हे आत्मन् ! तेरे शत्रु मोह रागद्वेष भाव हैं, और उनके विनाशकी उपायभूत ज्ञानधार भी तुझमें तन्मय है, ज्ञानधारको संभाल अब देखता है। अनादि परम्परासे चले आये हुए मोह, रागद्वेष शत्रुवोंपर दृढ़तासे भावज्ञानका प्रहार कर, दृढ़तासे कर अपनी सारी शक्ति लगाकर। यहाँ ज्ञान करण भिन्न नहीं है, किन्तु आत्माको इस स्थितिमें आनेका उपदेश है कि आत्मन् पराश्रयदृष्टि छोड़कर निजात्माकी सम्यक्श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप ज्ञाताद्रष्टाकी स्थितिमें रह अवश्य मलिन पर्याय विलीन होगी और तुम स्वयं अनंत सुखमय देखोगे। कार्य तेरे करनेका मात्र एक यह ही है, जिनेन्द्रोपदेशको निमित्तमात्र करके जो भावज्ञान-आत्मज्ञान हुआ है उसका मोह रागद्वेषपर प्रहार कर। जैसे जिसके हाथमें तलवार है, पुरुष भी समर्थ है और तलवार भी तीक्ष्ण है यदि उससे सामने शत्रु आ जाय और वह अपना बल आजमाये तब तलवार वालेका कार्य क्या है ? मात्र वही जो योद्धा करते हैं। इसी तरह जिनेन्द्रोपदेश पाया, उससे भावज्ञानकी भावनाके अवलम्बनसे भावक पुरुष भी समर्थ हुआ। तब मोह राग द्वेष शत्रु जो सामने हैं, उनके प्रति अब काम क्या है ? केवल एक यह ही व्यापार जो आत्मज्ञानका निपात मोहादिपर करे। यहाँ निपात मात्र इतना है जो उपयोग में ज्ञानस्वभावको स्थिरतासे रखे।

अवसरपर पुरुषार्थसे न चूकनेका अनुरोध—यह अवसर अमूल्य है, पुरुषकार बिना गंवा देनेमें यदि सुमति हो तब स्वयंको पछतावा है अन्यथा ज्ञानी पुरुष तेरे प्रमादको तेरे लिये पछतावेंगे। आत्मन् ! तू ज्ञानियोंके दुःखका कारण तो मत बन। समयका लाभ ले, परदृष्टि हटाकर निजात्मदृष्टिका दृढ़ आलम्बन ले, यही तेरी विजयका उपाय है। अहो ! इस ही समय इस ही के लिये मैं मोहके क्षपणके लिये पुरुषार्थमें बैठता हूं, निज शुद्ध निरञ्जन आत्मतत्त्वके उपयोगरूप महान् पुरुषार्थमें बैठता हूं, ठहरता हूं। मुझे अन्य अब कोई बात सुनने देखनेकी नहीं है। यहाँ खड्ग रत्नत्रयका है, रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समुदायका नाम है अर्थात् आत्माकी उस परिस्थितिका नाम है, जहाँ निजशुद्धात्माका निश्चल अनुभव है, और वीतरागता प्रवर्तमान है। इस एक ज्ञानमात्र अनुभवनरूप खड्ग के द्वारा मोह, रागद्वेषरूप बाह्यानुभव विभाव विलीन किया जा रहा है। यह कथन घातका है, किन्तु अलङ्कार मात्र है, परमदयाका यहाँ वर्णन है। इस प्रकार आचार्य महाराज निकट

Version 1

भव्य जीवोंको प्रतिबोधते हैं कि जिनेन्द्रोपदेशका लाभ होनेपर भी यदि शीघ्र मोह, रागद्वेषका क्षय कर दोगे तो सर्वदुःखोंसे छुटकारा पा लोगे। जो समझनेको तैयार हैं, समझते हैं उनके प्रति ही प्रतिबोधनेका व्यवहार होता है। यहां शिष्य भी यथार्थ रहस्य जानकर प्रतिज्ञासंकल्पबद्ध हो रहा है कि मैं सर्व आरम्भसे मोहके क्षयके लिये पुरुषार्थमें ठहरता हूं।

मोहक्षयके लिये स्वपरविभागसिद्धिके प्रयत्नका उपदेशन—अब मोहक्षयका सिद्ध एवं अमोघ उपाय बताकर उस उपायकी सिद्धिके लिये आचार्य प्रयत्न करते हैं—आचार्यको तो वह उपाय सिद्ध हुआ है। वहाँ तो शिष्योंके समझानेके तात्पर्यमें प्रयत्नका व्यवहार हुआ है। मोहक्षपण स्वपरविभागकी सिद्धिसे ही होता है। यह अनादिसे परमें एकत्वका अध्यवसाय किये हुए प्रवर्त रहा है। इस ही अध्यवसायसे मोहभाव पुष्ट हो रहा है। इसके क्षयका उपाय स्वको स्व व परको पर समझना, मानना है। हे आत्मन्! परसे अत्यंत पृथक् निज चैतन्य शक्तिमय अपने आपकी स्वीकृति तो कर। संसारमें परलक्ष्यमें इतना भटका, क्या पाया? क्या हित साधा? अहित ही तो हाथ लगा। यह सुख शांतिका अमोघ उपाय है, पर विपदामें लीन प्राणीको अन्य कोई उपाय नहीं है शांतिका। एकमात्र भेदविज्ञान ही शरण है। उस ही स्वपरविभागकी बात यहाँ करते हैं। हे आत्मन्! ध्यानपूर्वक सुन, मनन कर, अङ्गीकार कर और महोल्लाससे सबसे अपनेको न्यारा देखकर पश्चात् विकल्पावस्थामें आये तो हाँ कर "यह ज्ञानमात्र ही मैं हूं।" श्रीमत्कुन्दकुन्द आचार्य इस ही विषयको लेकर स्वपरविभागकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं—

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहि संबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥८९॥

स्वपरविभागसिद्धि—जो निश्चयनयसे भेदज्ञानका आश्रय कर स्वकीय ज्ञानभावमें तन्मय स्वयंको और परकीय भावमें तन्मय पर चेतन व अचेतनको पृथक्-पृथक् रूपसे जानता है वह मोहके क्षयको अवश्य करता है। जो जैसा अवस्थित है उसे उस प्रकार ही समझना ज्ञानमार्ग है। मैं स्वकीय चैतन्यात्मक द्रव्यत्वमें तन्मय हूं, और पर जो चेतन हैं, वे उन्हीं परकीय चैतन्यात्मक द्रव्यत्वमें तन्मय हैं तथा जो पर अचेतन हैं, वे उन्हीं अचेतन परकीय द्रव्यत्व में तन्मय हैं। ऐसा अखंड पूर्ण द्रव्यपर दृष्टि रखकर जो परिच्छेदन करता है—विभाग करता हुआ जानता है, वही भेदविज्ञानी है।

एकत्वविभक्त निज स्वरूपका समर्थन—मैं रूप, रस, गंध, स्पर्शरहित हूं, किसी द्रव्य के चलने ठहरनेका निमित्तभूत नहीं हूं, परिणमनका सहायक नहीं हूं, अवगाहनका निमित्त नहीं हूं तथा अन्य चेतनके गुण पर्यायोंसे अत्यंत पृथक् हूं। अतः मैं निज सत्त्ववान द्रव्य हूं, अनादिसे हूं, मैं किसीके द्वारा रचा गया नहीं हूं, स्वतःसिद्ध हूं, पूर्ण हूं, अखण्ड हूं, मुझमें से

Report any errors at vikasnd@gmail.com

न कोई गुण या परिणतिका बाहर विहार है और न मुझमें अन्य किसी सजातीय अथवा विजातीय द्रव्यके गुण या परिणतियोंका प्रवेश है। मैं स्वतः अनंत शक्तियोंका पुञ्ज हूं, अनंत शक्त्यात्मक हूं, स्वतंत्र हूं, सर्वसे न्यारा हूं। इसी प्रकार सर्व द्रव्य भी अन्य सर्वसे जुदे हैं।

निमित्तनैमित्तिक प्रसंगमें भी वस्तुस्वातन्त्र्य—जगतके सभी पदार्थ अपने आपमें स्वयं की परिणतिसे परिणमते, एक पदार्थका दूसरे पदार्थपर असर नहीं होता। हाँ मात्र अन्य द्रव्य को निमित्तमात्र करके स्वयंके असरको विकसित करके स्वयं परिणमता है। जैसे दिखनेमें ऐसा लगता है कि सूर्य घट पट आदि अनेक पदार्थोंको प्रकाशित करता है, किन्तु पहिले यह निर्णय तो कर लो कि सूर्य कितना बड़ा है? सूर्यका जितना बिम्ब दिखता, उतना बड़ा सूर्य है या जितना जगत प्रकाशमान है, उतना बड़ा है? बिम्ब जितना सूर्य है, तो बिम्बसे बाहर सूर्यका असर नहीं, बाहर जो असर है वह सूर्यका नहीं, जहाँ जो पदार्थ है उस ही का है।

प्रश्न—प्रत्यक्ष तो दिखता है कि यह सब सूर्यका प्रकाश है? उत्तर—सूर्यको निमित्तमात्र पाकर ये घट, पट, कांच वगैरा स्वयं अपनी अंधकार अवस्थाको छोड़कर प्रकाश-अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। अन्यथा फिर इसका क्या कारण होगा कि घट तो सामान्यतया प्रकाशित है, और कांच जगमग रूपसे प्रकाशित है। यदि सब सूर्यका प्रकाश है तो वह सर्वत्र एकसा होना चाहिये।

प्रश्न—यह तो पदार्थकी योग्यतापर निर्भर है। कांच स्वयं अति स्वच्छ है कि वहाँ सूर्यका प्रकाश महिमासे रह सकता है? उत्तर—बस यही तो हम कहते हैं कि पदार्थ योग्यता-पर पदार्थका प्रकाश अवलम्बित है, वहाँ सूर्य निमित्तमात्र है। दूसरी बात यह है कि जिस वस्तुका जो गुण है या पर्याय है वह उस वस्तुके प्रदेशोंमें ही आधारित है, बाहर नहीं। सूर्य-बिम्बमात्र है, उसका प्रकाश उस ही में अवबद्ध है।

प्रश्न—तब सूर्यकी किरणें नजर आती हैं, तो क्या ये सूर्यकी किरणें नहीं हैं? आगम में तो सूर्यकी सोलह हजार किरणें बताई हैं। उत्तर—जो ये दिखते हैं, वह सब प्रकाशमान स्कंध हैं। आँखकी दृष्टिसे सूर्य तक ये पंक्तियाँरूपमें नजर आती हैं। आगममें सूर्यकी किरणों का बताना सूर्यकी महिमासे तात्पर्य रखता है अर्थात् सूर्यमें १६ हजार पंक्तियोंके स्कंधको प्रकाशमान करनेका निमित्तपना है। इस निमित्तदृष्टिसे यह बात सिद्ध है कि सूर्यकी सोलह हजार किरणें हैं। सूर्य सूर्यमें है, पटादि अपने स्वरूपमें हैं। यही बात मेरे विषयमें भी है। मैं जगतके पदार्थोंको नहीं जानता हूं, मात्र अपने स्वरूपको जानता हूं, क्योंकि ज्ञानगुण मेरा अभिन्न असाधारण गुण है, उसकी क्रिया व उस क्रियाका कर्म मैं ही हूं। ज्ञानका कार्य जानना है, वह मेरे प्रदेशोंसे बाहर नहीं हो सकता।

ज्ञान द्वारा निज ज्ञेयाकारका जानन—अब यहाँ यह विचारना है कि ज्ञान जानता है

Version 1

है। तो जानता किसे है ? जो जाननेमें आवेगा वह कुछ न कुछ आकार रूप होगा, तो इसका यह समाधान है कि ज्ञान निज ज्ञेयाकारोंको जानता है। ये ज्ञेयाकार ऊट-पटांग नहीं बन गये हैं, ज्ञेय द्रव्य जैसा है वैसे आकाररूप ज्ञानको ज्ञेयाकारोंकी परिणति हुई। देखो ज्ञानकी कैसी महिमा है—इतना बड़े विश्वका आकार देहमात्र असंख्य प्रदेशोंमें ऐसा समाया कि जाननेमें उतना ही बड़ा आ रहा है। यहाँ ये ज्ञेयाकार विश्वके किसी पदार्थसे नहीं आये, किन्तु पदार्थोंको निमित्तमात्र पाकर ज्ञानसे ही निकले। ये ज्ञेयाकार ज्ञानमें पहलेसे भरे हुए नहीं थे, किन्तु ज्ञानमें वर्तमान मात्र पर्यायसे प्रकट हुए हैं। जैसे बाह्य समक्ष वस्तुवोंको निमित्तमात्र पाकर दर्पणमें वैसा आकार होता है, यह आकार बाह्य वस्तुवोंसे निकलकर नहीं आया, किन्तु बाह्य वस्तुवोंको निमित्तमात्र पाकर दर्पणसे ही आकार निकला। यह आकार दर्पणमें पहिलेसे भरा नहीं था, किन्तु बाह्य समक्ष वस्तुवोंको निमित्तमात्र पाकर दर्पणमें वर्तमान पर्याय मात्रसे प्रकट हुआ है। हाँ तो ज्ञानने जिनको निमित्तमात्र पाकर निज ज्ञेयाकारकी सृष्टि की, उन निमित्तभूत परद्रव्योंको नहीं जाना। मात्र व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानने घट पट आदिको जाना। इस व्यवहारका कारण यह है कि ज्ञानके विषयभूत ज्ञेयाकारोंकी रचनामें निमित्तभूत या आश्रयभूत परद्रव्य हैं।

स्वकीय चैतन्यात्मकताका उपयोग—इस प्रकार इस जीवके ज्ञानके ज्ञेयाकारको जो चेतन अचेतन वस्तु आश्रयभूत होता है, उस पदार्थको अनादि मोहसे स्फारवश परिग्रह बना लेता है और सम्बंध मानने लगता है। किन्तु मुझ स्वकीय चैतन्यात्मक द्रव्यसे सभी अन्य चैतन्यात्मक द्रव्य व अचेतन द्रव्य अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ हैं। त्रिकालमें भी मेरा किसी पर-द्रव्यसे सम्बंध नहीं है। इस प्रकार स्वकीय स्वकीय सत्ता की स्वतंत्रताको देखकर जो निकट भव्य जीव वस्तुवोंका स्वतंत्र स्वतंत्र रूप परिच्छेदन करता है वह ही भले प्रकार स्व और परके विवेकको प्राप्त करता है और समस्त मोहका क्षय करता है। स्वपरविवेक बिना मोहका क्षय नहीं होता। मोहके क्षयके बिना आत्मशांति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः मैं यह स्वपरविवेकके लिये प्रयत हूं। यहाँ इस संकल्पका यह भाव है कि जिस स्वपरविवेकको प्राप्त किया है उसकी दृढ़ताके लिये पूर्ण सावधान हूं।

मोहक्षयके उपायोंकी सिद्धिका उपसंहरण—अब मोहके क्षपण करनेके उपायोंका वर्णन करके प्रधान उपाय जो स्वपरविवेक उसकी सिद्धि आगमसे होती है, अतः आगमके लिये प्रेरणा करते हुए आचार्यदेव उपसंहार करते हैं—उपसंहार तो वस्तुतः उप कहिये समीप में अपने आपसे, सं कहिये भले प्रकारसे हरण करने, धारण करनेको कहते हैं। सो निश्चयतः तो आचार्य इस स्वपरविवेक सिद्धिको अपने आपमें धारण कर रहे हैं, किन्तु परके निमित्त इस सिद्धिके उपायभूत आगमज्ञानके [illegible] पूर्वोक्त वर्णनका उपसंहार करते है—

Report any errors at sikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तम्हा जिणमग्गाहो गुणेहिं आदं परंच दव्वेसु ।
अभिमच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ।।९०।।

स्वपरविभागसिद्धिसे निर्मोहता—स्वपर भेदविज्ञान ही मोहका क्षय होता है । इस कारणसे यदि निर्मोहभावको चाहते हो तो जिनमार्ग—जैनागमसे सर्व द्रव्योंमें से गुणोंके द्वारा अपनेको और परको यथावस्थित जानो । ये छहों द्रव्य एक ही स्थानपर अवस्थित हैं तथापि सत्त्व सर्वका पृथक्-पृथक् है । सहज शुद्ध चैतन्यस्वभाव वाले मुझका जगतके किसी भी चेतन अचेतन पदार्थसे नहीं है । प्रत्येक द्रव्यमें अनंत गुण हैं, उनमें प्रधान गुण अन्ययोगव्यवच्छेदक हैं अर्थात् प्रधान गुणोंके द्वारा अन्य द्रव्यसे प्रकृत द्रव्यका विभाग होता है । इस ही विभागसे यथार्थ ज्ञानी मोहको नष्ट करनेमें कुशल होते हैं । सर्व द्रव्योंको परस्पर पृथक्-पृथक् जाननेका प्रयोजन यह है कि अपने आपके आत्माको सर्व द्रव्योंसे पृथक् जानना और स्वयंको ज्ञानमय अनुभव करना । यह मेरा अभिन्न चैतन्य स्वयं सत् अहेतुक है, क्योंकि है । जो वस्तु होती है, वह स्वतःसिद्ध अहेतुक होती है । मैं वस्तुभूत हूं, सो स्वतःसिद्ध ही हूं ।

पदार्थ और सृष्टिकी स्वतःसिद्धता—जिनके अभिप्रायमें आत्मा व अनात्मा या किसी की किसी सृष्टा द्वारा सृष्टि हुई है, वे पृष्टव्य हैं कि जो न था, ऐसे कोई अपूर्व पदार्थकी सृष्टि हुई है या पहिलेसे सद्भूत पदार्थकी अवस्थामात्र बदली जाती है । पहिले पक्षमें उपादान द्रव्य क्या है ? जगतमें उपादान बिना कुछ भी रचना नहीं देखी जाती है । यदि सूक्ष्म उपादानभूत वस्तुको स्वीकार करते हो तब सत्ता स्वयं पहिले सिद्ध हो गई । यदि ईश्वरको उपादान स्वीकार करते हो तो सारी सृष्टिमें ईश्वरके चैतन्यादि गुण ही विकसित होने चाहियें और सब अनवच्छिन्न अखंड होना चाहिये । यदि सद्भूत पदार्थकी अवस्थामात्रको सृष्टि कहते हो तब इष्ट ही है, फिर तो केवल निमित्तमें ही विवाद है । सो वैज्ञानिक शैलीसे इसका हल करना चाहिये ।

आत्मस्वरूप—हाँ तो मेरा चैतन्य ही मैं हूं, जो चित्स्वरूप होनेके कारण अंतरङ्ग व बहिरङ्गरूपसे प्रकाशक है अर्थात् स्वको और परको जानने वाला है, ऐसा अभिन्न चैतन्य मैं हूं । सो मैं इस मेरे समान जाति वाले चित्स्वरूपी अन्य द्रव्योंसे व असमानजातीय अन्य द्रव्यों को छोड़कर मेरे आत्मामें ही यह वर्तमान है, उसके द्वारा मैं अपने आपको ही जानता हूं । मैं समस्त कालमें रहने वाला ध्रुव हूं, मैं उपादव्ययुक्त हूं, मात्र ध्रुव कोई वस्तु नहीं है तथापि उत्पादव्यय वाले धर्म मुझमें सदा नहीं टिकते, और मैं केवल किसी पर्यायमात्र नहीं हूं, अतः स्वभावकी दृष्टिसे देखनेपर मैं ध्रुव ही हूँ । इस ही प्रकार जैसे सर्व अन्य द्रव्योंसे पृथक् मदीय चैतन्यगुणके द्वारा—जो कि सर्वद्रव्योंसे पृथक् अपने स्वलक्षणसे मुझमें कांपकर रहता है— मैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अपनेको आवान्तर सत्तावान निश्चित करता हूं, उस ही प्रकार सब ही पदार्थ पृथक्-पृथक् वर्तमान अपने-अपने लक्षणों द्वारा जो अन्य-अन्य द्रव्योंको छोड़कर विवक्षित उस ही द्रव्यमें रहते हैं, त्रिकाल रहने वाले आकाश, धर्म, अधर्म, काल पुद्गल व जीवान्तर हैं, ऐसा मैं निश्चय करता हूं, पुद्गलका स्वलक्षण रूप, रस, गंध, स्पर्शवर्ती मूर्ति है। धर्मद्रव्यका स्वलक्षण जीव और पुद्गलकी गतिका निमित्तभूत अमूर्ति असाधारण द्रव्यत्व है। अधर्मद्रव्यका स्वलक्षण जीव और पुद्गलकी स्थितिका निमित्तभूत अमूर्तिक असाधारण द्रव्यत्व है। आकाशका अवगाहन-हेतुत्ववान असाधारण द्रव्यत्व, कालका परिणमन हेतुत्ववान असाधारण द्रव्यत्व है। इसलिये न तो मैं पुद्गल हूं, न धर्मद्रव्य हूं, न अधर्मद्रव्य हूं, न काल हूं और न जीवान्तर हूं। सर्व सत् परस्पर जुदे हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने गुणोंमें ही तन्मय हैं।

द्रव्योंमें परस्पर पार्थक्यव्यवस्था—जैसे अग्निका संयोग पाकर पात्रस्थ जल गर्म हो जाता है ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, तो भी अग्नि परिणतिसे जलने गर्म अवस्था धारण नहीं की, किन्तु जलनेकी शीत पर्यायका तिरोभाव करके उष्णपर्याय प्रकट की। गुरु शिष्यको पढ़ाता है, वहाँ जो शिष्य ज्ञानवान बना वह गुरुके ज्ञानकी परिणतिसे नहीं बना, किन्तु शिष्य स्वयंकी ज्ञानपरिणतिसे ज्ञानी हुआ। एक द्रव्यसे दूसरा द्रव्य पृथक् है, इसका मूल कारण या लक्षण-चिह्न यही है, जो एककी परिणतिसे दूसरा नहीं परिणमता। जैसे एक कमरे में १०-१५ दीपकोंका प्रकाश है, वहाँ प्रत्येक दीपकका प्रकाश अलग-अलग स्वरूप रख रहा है, वहाँसे यदि ७-८ दीपक उठा लिये जावें, तो उतने प्रकाशकी कमी हो जाती है। इससे यह प्रतीत है कि वहाँ १५ दीपकोंका प्रकाश भिन्न-भिन्न है। इसी तरह लोकाकाशके किसी भी एक स्थानपर छहों द्रव्य हैं, और जीव पुद्गल तो उनमें अनन्तानंत हैं, फिर भी वे सब पृथक्-पृथक् ही हैं, अपने-अपने स्वरूपसे कोई च्युत नहीं है। यहाँ दीपक प्रकाशका दृष्टान्त लौकिक जनोंकी अपेक्षा दिया गया है। वास्तवमें तो दीपकका प्रकाश दीपकसे बाहर नहीं है, दीपक जितना ही दीपकका प्रकाश है। दीपक उतना कहलाता है जितना कि लौ है। उस दीपकको निमित्त पाकर जो स्कंध प्रकाशमान हैं, उसके निमित्तनैमित्तिक सम्बंधके कारण दीपकके प्रकाशका उपचार किया जाता है। वहाँ यह अर्थ लगा लेना कि जैसे दीपककी परिणतिसे स्कंध प्रकाशमान नही है दीपकको निमित्त पाकर स्कंधकी परिणतिसे ही स्कंध प्रकाशमान है, उसी तरह एक द्रव्यकी परिणतिसे दूसरे द्रव्यकी कोई परिणति नहीं होती। स्कंधोंमें भी सभी स्कंध कमरेमें एक स्थानपर होते हुए भी किसीकी परिणतिसे कोई नहीं परिणमते, सब अपनी अपनी परिणतिसे परिणमते हैं। एक स्कंधमें भी और-और दीपकोंका निमित्त पाकर प्रकाशकी श्रेणीमें अधिकता होती जाती है वहाँ उन श्रेणियोंके निमित्त पृथक्-पृथक् हैं, उनको निमित्त

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मात्र पाकर प्रकाशके अविभाग प्रतिच्छेद भी जुदे-जुदे हैं, किसीमें किसीका प्रवेश नहीं है। इन सब पृथक्त्वव्यवस्थानोंके दृष्टान्तसे द्रव्यमें भी पृथक्त्वव्यवस्था सुघटित समझ लेनी चाहिये।

सर्व द्रव्योंके स्थानमें मिलकर अवस्थित होनेपर भी मेरा चैतन्य मेरे स्वरूपसे अप्रच्युत हीं है, यह स्वरूपसत्ता मुझे पृथक् ही बतलाती है। इस तरह सर्व द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं, अपनी-अपनी स्वरूपसत्ता लिये हुए हैं। स्वपरविवेकको निश्चित कर लेने वाले आत्माके विकारकारी जो मोहांकुर उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। अतः हे आत्मन्! करने योग्य कार्य यह ही है कि दुःखके कारणभूत मोहभावका अभाव करनेके अर्थ स्वपरविवेक करो और इस भेदविज्ञानको दृढ़ बनावो।

यथार्थ श्रद्धानके बिना धर्मके अलाभका कथन—अब जिनोदित अर्थके श्रद्धान् बिना धर्मलाभ नहीं होता, इस बातका प्रतर्क करते हैं प्रकृष्ट तर्क करके दृढ़ भाव बनाते हैं। जगतमें सर्व अर्थ जैसे अवस्थित हैं वैसे ही जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत हैं। अनंत तीर्थंकरोंने अर्थके स्वरूप की व्यवस्था ऐसी स्वतंत्र सुनिश्चित बताई है। जैसे पदार्थोंका स्वरूप नहीं बदलता वैसे ही जिनेन्द्रोपदेश भी अनादि परम्परासे सत्य ही चला रहा है, वह भी नहीं बदलता। पदार्थ जैसे हैं उस प्रकारके श्रद्धानके बिना धर्मलाभ नहीं होता है। धर्म नाम आत्मस्वभावका है उसकी प्राप्ति परपदार्थ व विभावमें आत्मीयता हटने से होती है, यह भेदविज्ञानसे ही शक्य है। भेदविज्ञानके लिये जो पदार्थ जैसे हैं वैसे ही श्रद्धानकी आवश्यकता है। सर्वपदार्थ अपनेमें अखंड सत्ता लिये हुए हैं, द्रव्यकी पर्याय उस ही द्रव्यसे उठती है इस प्रकार सर्व द्रव्य स्वरूपसे ही अत्यन्त स्वतन्त्र हैं, इस श्रद्धामें परपदार्थकी उन्मुखता नहीं रहती है। वहाँ धर्म आत्मस्वभावपर दृष्टि होती है, वही धर्मलाभ है। इस ही बातको आचार्यदेव कहते हैं—

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो सवणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥६१॥

सत् श्रद्धा बिना धर्मकी असंभवता—सत्ताकरि संबद्ध विशेष स्वरूपकरि सहित इन द्रव्योंकी जो नहीं श्रद्धान करता है वह द्रव्यसे मुनिपदमें हो तो भी वह श्रमण नहीं है उस श्रमणसे धर्म उत्पन्न नहीं होता। सन्मात्रकी अपेक्षा किसी पदार्थसे किसी पदार्थकी विसदशता नहीं है। सभी सत् हैं है में क्या भेद? इसलिये सदृश अस्तित्व करिके सहित होनेसे सब द्रव्य सामान्यभावको प्राप्त हो रहे हैं, फिर भी स्वरूपास्तित्व सबका जुदा है, ऐसे ही भिन्न स्वरूप को स्वतः लिये हुए पदार्थ अनादिसे हैं, अतः सर्वसविशेष हैं, परस्पर अत्यन्ताभावको लिये हैं, मैं सर्वसे न्यारा स्वरूपी हूं, सर्व मुझसे अत्यन्त न्यारे स्वरूपी हैं—इस प्रकारसे जो भेद श्रद्धान नहीं करता ऐसा विवेक नहीं करता वह अपने श्रामण्य वेशसे अपने आपको धोखेमें रखता है,

Version 1

ठगता है, वह श्रमण नहीं है। यहाँ श्रमणका प्रकरण है, प्रसंग है। वस्तुकी सत्य श्रद्धा बिना कुछ धर्मका बाह्य कार्य किया जावे, उससे तो वह आत्मा अपने आपको ठगता है, क्योंकि मान्यतामें यह बैठा कि मैं धर्मात्मा हूं और वहाँ धर्म संभव नहीं है। सो यह बड़ी असावधानी है। इससे तो अविरत सम्यग्दृष्टिकी सावधानी देखो, वह अव्रत अवस्थामें रहता हुआ अपनी स्थितिसे घृणा रखता है, अपनी किसी परिणतिको ध्रुव आत्मा नहीं समझता।

धर्मोपलम्भका उपाय—मैं आत्मा अनादि अनंत अहेतुक ध्रुव एक ज्ञानस्वभावी हूं इस प्रकार भावनापूर्वक आत्मस्वभावका अवलम्बन लेकर अपनी प्रतीति करे। क्षणिक परिणतियोंको तो जब तक स्मरण है श्रमण अज्ञान श्रेणियोंमें टालता रहता है और यही प्रधान कारण है कि उसकी स्वरूपदृष्टि बहुत बहुत बनी रहती है। इसलिये धर्मलाभ उपाय भेदविज्ञान है और भेदविज्ञानका उपाय जैसे जैसे द्रव्य अपने-अपने विशेष स्वरूपको लिये हुए हैं स्वचतुष्टयसे सत् परचतुष्टयसे असत् वैसा श्रद्धान् करना है। इसके बिना धर्मलाभ नहीं होता। जैसे जिस न्यारियेको सोनेके कण और रजके कणोंका विशेषस्वरूपका विज्ञान नहीं है वह शोधक कैसे शोधक कहला सकता है—रेणुसे भिन्न सुवर्ण कणको कैसे ग्रहण कर सकता है ? नहीं कर सकता है। इसी प्रकार निजस्वभावको और पर व परभावको जो नहीं जानता है वह परके उपयोगको छोड़कर आत्मस्वभावका उपयोग कैसे कर सकता है ? नहीं कर सकता। रागद्वेष विभावोंसे रहित ज्ञायकस्वभावमय आत्मतत्त्वकी उपयोग द्वारा उपलब्धि होना धर्मोपलब्धि है, उसका वह पात्र नहीं है, जिसे वस्तुस्वरूपका यथार्थ श्रद्धान् नहीं है, धर्म जहाँसे प्रकट होता है उसे जाने बिना धर्म कैसे प्रकट होगा ?

सहज स्वभावके अवलम्बनमें धर्मलाभ—धर्म बाह्य पदार्थकी देन नहीं है, मेरा धर्म किसी बाह्य वस्तुमें है ही नहीं, तब वहाँसे कैसे प्रकट होगा ? प्रत्युत बाह्य किसी वस्तुसे धर्म होता है, इस दृष्टिमें बाह्य परपदार्थको विषय किया। जिससे निमित्तदृष्टिके कारण विभाव ही बढ़ा, वहाँ धर्मकी उत्पत्ति नहीं हुई। निमित्तदृष्टिमें धर्मका विकास संभव ही नहीं है। अखंड पूर्ण विशुद्ध ज्ञानस्वभावमय निज आत्माका अभेदस्वभावसे अनुभव किये बिना बाह्यका प्रसङ्ग कैसे छूटे ? बाह्यसङ्ग अनादिसे रहनेके कारण अभ्यस्त बन गया है। उसकी मुक्ति स्वभावदृष्टि बिना नहीं होगी। इसलिये जो पदार्थ जैसे अपने-अपने विशेष स्वभाव वाला है, उसे वैसा ही श्रद्धान करो, इससे भेदविज्ञान होगा। भेदविज्ञानके अनंतर अहितका परिहार हितका उपाय होगा, उससे धर्मका विकास होगा। जीवको धर्म ही शरण है, विकल्पोंकी बहुलतासे आत्माके किसी हितकी सिद्धि नहीं, जगतके समागमसे किसी हितकी सिद्धि नहीं। हित स्वभावदृष्टिमें है, क्योंकि इससे ही निराकुल परिणतिका विकास होता है। आत्माका स्वभाव ज्ञान और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आनंदमय है। जगतके जीवोंकी इन दो की ही वांछा है— ज्ञान और आनंद। सो ये तो आत्मा के स्वभाव ही हैं, परन्तु ऐसा न समझ पाया। इसलिये परदृष्टि कर मलीन बनते हुए संसारमें रुलना पड़ा है। एकसौ साढ़े सित्यानवे करोड़ कुल वाले शरीरोंमें भ्रमा है। इन सब भवोंमें एक मनुष्यभव आर्य कुल सर्वयोग्यता कठिन है, सो भी कभी पाया तो आहारादि संज्ञावोंकी आसक्तिमें काल खो दिया।

अधिकारके सम्हालकी उपयुक्तता—हे आत्मन्! इस समय तुम जिस स्थितिमें हो, वह आगे कल्याणके लिये मार्ग बना लेनेके लिये बड़ा उपयुक्त है। अतः सर्व ममत्व अज्ञानको छोड़कर अपने आपको एक अभेदस्वभावसे अनुभव करो, यहाँ धर्म अपनी उत्पत्तिको अनुभवने लगेगा। यही भाव परमसुखमय होगा। यहाँ यह प्रथम अधिकार पूर्ण होने वाला है एवं द्वितीय ज्ञेयाधिकार लगने वाला है, इन दोनों अधिकारोंका सम्बंध यह प्रसंग बना रहा है। ज्ञानके लिये ज्ञेयज्ञानकी आवश्यकता है। सो ज्ञानका निरूपण करनेके बाद ज्ञेयतत्त्वका निरूपण आवश्यक हो गया है। यह गाथा ज्ञानाधिकारकी उपान्त्य गाथा है इस गाथाके बाद अभेदस्वभावी धर्मकी भावना करनेके लिये एक गाथा कही जायगी। जिस गाथाके बिना ज्ञानाधिकारकी समाप्ति उद्देश्यप्रदर्शनके कमी बता देने वाली होती है।

आदिमंगलभावनाका स्मरण—अब अंतिम मंगलभावनासे पहिले इस ज्ञानाधिकारमें किस क्रमसे क्या वर्णन किया गया, यह अतिसंक्षेपसे बताते हैं। सर्वसे पहिले नमस्कार विधि को करके प्रतिज्ञा बतलाई है, जो प्रतिज्ञा की गई है—"उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाण संपत्तो" मैं समताभावको प्राप्त होता हूं, जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है। यहाँ दृढ़संकल्प ही प्रतिज्ञा है। समताभाव बिना निर्वाणका मार्ग नहीं है। रागद्वेष विभावसे दूर रहनेके लिये जितने धर्मकार्य किये जाते हैं, वे समताभावके लिये हैं। यहाँ समतासे परिपूर्ण अरहंत सिद्ध भगवानको नमस्कार किया गया है, इससे समताका उद्देश्य करने वालेका है, यही स्पष्ट रहना चाहिये। इसी समताभावको पूर्ण पानेका यत्न आचार्य, उपाध्याय, साधु करते हैं। उनका स्मरण भी समताभावके उद्देश्यका द्योतक है।

धर्मपरिणत आत्माकी धर्मरूपता—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं करता, इस श्रद्धा वाले रागवश किसी ध्यानमें आते हैं तो वीतराग आत्माके ध्यानमें, और इसी कारण उनका समतासे अतिरिक्त अन्य उद्देश्य नहीं होता। इस प्रकार प्रथम समताका संकल्प किया, फिर वह समता क्या वस्तु है? इसका निर्णय किया, क्योंकि जिसे पाता है, और जिसकी दृष्टि बिना पाना होता नहीं, उसे जाने बिना कोई सिद्धि नहीं है। अतः समतापरिणामको धर्म रूपमें निश्चय किया "चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो" चारित्र धर्म समता

Version 1

ये एकार्थक हैं। अपने ज्ञानस्वरूपसे अवस्थित रहना चारित्र है, धर्म है, समता है। इस प्रकार समतापरिणामको धर्म निश्चित करके फिर यह निश्चय करो कि धर्म अर्थात् आत्मस्वभाव आत्मासे जुदा नहीं है, और धर्मभावपर किया उपयोग भी उस कालमें जुदा नहीं है। अतः "परिणमदि जेण दव्वं तत्कालं तम्मयत्ति पिण्णत्तं। तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो" इस विधिके अनुसार आत्माके ही धर्मपना निश्चित किया है।

शुद्धोपयोगसे परमधर्मलाभका वर्णन--परन्तु धर्मभावकी दृष्टि आ जानेपर भी कभी ऐसा होता है कि शुभोपयोगकी परिणति भी हो जाती है तब यह शुभोपयोग वस्तुतः शिवमार्ग का घातक ही है। क्योंकि शुभोपयोग भी अशुद्धोपयोग है तब अशुद्धोपयोग जैसे आत्मसिद्धिका विरोधी है वैसे ही शुभोपयोग भी आत्मसिद्धिका विरोधी है। अतः धर्मभावसे परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोगकरि युक्त है तो निर्वाणसुखको प्राप्त करता है। इस प्रसंगको लेकर शुद्धोपयोग व शुद्धोपयोगसे परिणत आत्माके स्वरूपका वर्णन किया और समस्त अशुद्धोपयोग व उसके फल पुण्य पाप व सुख दुःखको सबको समान निश्चित कर दूर कराया तथा इन्द्रियज ज्ञान सुखको हेय विस्तृत किया। पुनः शुद्धोपयोगके विशेष स्वरूपको बताकर उसके फलस्वरूप सहज ज्ञान और आनंदका उद्योतन करके अर्थात् अपने आपमें प्रकट हुए सहज ज्ञान आनंदकी तरंगोंका स्पर्श करके आचार्य श्री कुंदकुंद देवने ज्ञान और आनंदके स्वरूपका विस्तारसे वर्णन किया। इस तरह ज्ञानाधिकारमें आचार्यदेवने अपने अविनाभावी सहज सुखको साथ लेकर ज्ञानके स्वरूपका स्पष्ट वर्णन किया। इस ही ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें सर्वहित निहित है, अतः यह परमार्थ ज्ञानाधिकार हम सबको शिवस्वरूप होओ।

धर्मस्वरूपताका अवधारण—अब यह पूर्ण धारणा करते हैं कि मैं ही साक्षात् धर्मस्वरूप हूं, धर्ममूर्ति हूं। इसीको प्रक्रियापूर्वक वर्णन करेंगे। संसारी जीवने जो अब तक दुःख उठाया उसका मूलभाव केवल परस्पृहा है—परकी आशा वाञ्छा तृष्णा है। धन आहारादि भिन्न सत्ता वाले अचेतन पदार्थ, पुत्र मित्रादि बंधनबद्ध चेतन पदार्थ और शरीर अचेतन पदार्थ—ये तो प्रकट पर हैं, इनमें व्यर्थ वाञ्छाका फल संसारपरिभ्रमण है। इनसे हटकर अब निज आत्मप्रदेशोंमें देखो क्या-क्या पर नाच रहा है? मैं एक ध्रुव ज्ञानस्वाभावी द्रव्य हूं, जो अध्रुव है वह मैं नहीं, रागादि परिणाम औपाधिक हैं और अध्रुव हैं, अतः परक्षायोपशमिक ज्ञानादि कर्म क्षयोपशमाधीन हैं, अतः अध्रुव है वह भी पर है। केवलज्ञान भी क्षणिक परिणति है, अतः इन सबसे उपयोग हटाकर एक निज ध्रुव ज्ञानस्वभावी शुद्ध द्रव्यमें उपयोग करना चाहिये। इस ही शुद्धोपयोगके प्रसादसे परपदार्थकी निःस्पृहता प्रकट होती है। इस प्रकार अब जिस किस ही प्रकारसे अर्थात् बड़े पुरुषार्थसे जिस प्रकार बने उस ही उपलम्भके यत्नसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शुद्धोपयोगका अवलोकन किया, जिसके प्रसादसे परनिःस्पृहताकी साधना हुई, सो परनिःपृहता पाकर आत्मामें ही वृद्धिगत व स्थित जो पारमेश्वरी प्रवृत्ति है ज्ञाताद्रष्टारूप स्थिति है उसे प्राप्त करता हुआ, कृतकृत्यताको प्राप्त करके बिल्कुल अनाकुल होता हुआ अपनेमें ही अभिन्न होने पर भी विकल्पजालवश उठते हुए भेदने उनकी वासनाको नष्ट किया, मेरे अब यही व्यपस्थित है। जो धर्मस्वरूप है वह ही साक्षात् मैं हूं। क्योंकि मैं धर्म अर्थात् स्वभावसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं हूं, इस ही बातको ध्वनित करते हैं--

जो णिट्ठदमोह दिट्ठी आगमकुसलो विराग चरियम्मि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मोत्ति विसेसिदो समणो ॥९२॥

निर्मोह ज्ञानीकी धर्मरूपता—जिसने प्रथम शुद्ध आत्मदेवकी प्रतीति गुणकी भक्ति करके उनसे प्राप्त किये वचनों द्वारा वस्तुस्वरूपका निर्णय किया और सात तत्त्वोंके श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यक्त्वके अभेदग्राही उपयोगसे निजशुद्धात्माकी रुचिरूप निश्चयोन्मुखतया सम्यक्त्व परिणामसे परिणति पाई, वह नियमसे दर्शन मोहको विनष्ट करता है, सो नष्ट कर दिया है, दर्शनमोहको जिसने ऐसा अंतरात्मा आगमकुशल होता है। वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत आगम का जिसे अभ्यास है और निज शुद्धात्माकी रुचि है, वह उपाधिरहित सहज ज्ञानके स्वसंवेदन में कुशल ही है, अतः वस्तुतः सम्यग्दृष्टि ही आगमकुशल हो पाता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी व्रत समिति आदि बहिरङ्ग चारित्रमें रहकर निज शुद्ध आत्मामें निश्चित परिणति करता है। सो इस प्रकार वीतराग चारित्रमें भले प्रकार उद्यमी हुआ महात्मा स्वयं धर्म है, ऐसा अधर्मरूप संसारको पार करने वालोंने दिखाया है।

स्वभावदृष्टिमें धर्मविकास—अहो! यह आत्मा स्वयं धर्मरूप है। आहा !! यह तो मेरा मनोरथ ही अंतरङ्ग भाव ही है। यह धर्म नया कहींसे पैदा नहीं करना है, क्योंकि मेरा धर्म कहीं बाहर नहीं है। वह यही अन्तरमें है, किन्तु उसका घात करने वाली यदि कुछ है तो वह बाह्य पदार्थमें मोह करनेकी दृष्टि मात्र ही है। सो वह कुदृष्टि आत्मज्ञान द्वारा दूर हुई, नष्ट हुई। यह आत्मज्ञान पूर्ण आस्तिक्यसे भरा हुआ है, क्योंकि जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत आगम के विधिपूर्वक अभ्याससे इस आत्मज्ञानकी पुष्टि भी हुई है। इस तरह आत्मज्ञान द्वारा यह मोहदृष्टि नष्ट हुई और अब आगे यह कुदृष्टि कभी भी नहीं हो सकेगी। कोईसा भी बाह्य अर्थ मुझमें त्रिकाल भी प्रवेश नहीं पा सकता। वस्तुकी स्वतः ही ऐसी व्यवस्था है तब मोह एक कल्पनामात्र ही है। परवस्तु कोई भी अपनी नहीं हो सकती। तब व्यर्थके ही कुभावसे स्वभाव रूप महाधन दबा हुआ है, और आत्मन् पवित्र ज्ञानानंदमय होकर भी मूढ़ता कर रहा है, नरजन्म खो रहा है। अपने धर्मभावको पहिचान। यह धर्म—ज्ञानस्वभाव अनादिसे तुझमें ही

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकाशमान है, इसपर दृष्टि देते ही सारा मोह अज्ञान भाग जाता है। अहो ! यह मैं आत्मा स्वयं धर्मरूप हूं, सो अब मैं इसके उपयोग द्वारा जीवन पाता हुआ स्वयं धर्मरूप होकर समस्त विघ्नबाधावोंसे रहित सदा ही ऐसे धर्मभावमय ज्ञाताद्रष्टारूप निष्कंप ठहरा रहूं। ज्यादा विस्तारसे क्या ? करनेसे ही काम सरेगा, अतः दृढ़तासे ज्ञाताद्रष्टाकी स्थितिस्वरूप धर्ममय रहूं।

आत्मलाभका स्वस्तिवाद—यह धर्मका पुण्य दर्शन जैनेन्द्र परमागमकी सेवासे हुआ है। सो इस जैनेन्द्र-भागवत-परमागम शब्दब्रह्मको मेरा नमस्कार हो, भक्तिभाव सहित मेरा सर्व समर्पण हो और आगमसेवामूलक हुए आत्मतत्त्वोपलम्भके लिये स्वस्ति हो, जिसके प्रसाद से अनादिकालसे बद्ध मोहभाव जो मेरे सर्वसंकटोंका मूल था, वह शीघ्र नष्ट हो गया। मोह-भावके विनाश होनेपर सहज ज्ञान निरुपाधि शुद्धात्म संवेदनसे अतिरिक्त कोई वैभव नहीं है, अन्य सब क्लेश ही क्लेश हैं। वह द्रव्य धन्य है, वह प्रदेश धन्य है, वह परिणति धन्य है, वह भाव धन्य है जहाँ मोहका अभाव हुआ। परपदार्थोंमें सम्बन्ध मानने, कुछ परिणति करनेकी वृद्धिसे ही बड़े संकट हुए, मेरे ही मात्र भ्रमसे मैंने विपदावोंका पहाड़ ढोया।

आत्माका स्वतंत्र और सत्य स्वरूप—सुखका यह उपाय तो बड़ा सरल है, स्वतंत्र है, सत्य है, इसके पता बिना ही सारी भ्रमणा हुई। अब पता पाया कि सर्व पदार्थ भिन्न हैं, कोई किसीकी परिणति नहीं करता, मैं मिथ्यात्ववश पहिले परका करने वाला हूं, इस मान्यता मात्रको ही करता रहा, परका तो मैं कुछ कर भी न सकता था। मैं परमें कुछ कर ही नहीं रहा, न कर सकूंगा और न मेरे परमें करनेको ही कुछ है। मैंने धर्मभावके दर्शन किये। इसकी हठभावनाके प्रसादसे शुद्धोपयोग उदय हुआ। अहो ! अहा ! यह तो शुद्धोपयोग स्वयं वीतराग चारित्रात्मक है। मैं तो बड़ा ही सुलझा हुआ निकला। अन्य कोई खटपट ही मेरे करनेको नहीं है। मेरा ज्ञानस्वभाव स्वयं रागादिके परिहार स्वभावको लिये हुए है, इस ज्ञान-स्वभावको दृढ़तासे उपयोगमें स्थिर करे रहना ही काम रह गया है, यही स्थिति वीतराग चारित्रकी है। इस वीतरागचारित्रात्मक शुद्धोपयोगके लिये स्वस्ति हो, जिसके प्रसादसे यह मैं आत्मा स्वयं धर्मस्वरूप हो गया।

स्वात्मोपलब्धिका कार्यक्रम—इस प्रकार प्रथम साधारण परिचय द्वारा ही देव शास्त्र गुरुका परिचय पाकर इनकी आराधनासे वस्तुके स्वरूपको समझें, उसको विशेष जाननेके लिये आगमका अभ्यास करें। आगमाभ्यासके फलमें निरुपाधि अनादि अनंत ज्ञायकस्वभावकी आरा-धना करें, जिसके फलस्वरूप स्वतः रागादिके उपयोगकी परिणति दूर होकर विशुद्ध चैतन्य-स्वभावका उपयोग होगा, उससे विशुद्ध चैतन्यका अनुभवन होगा। चैतन्यानुभवके द्वारा सम्य-ग्दर्शनके परिणामको पाता हुआ अंतरात्मा दर्शनमोहका अभाव कर देता है, जिससे धर्मभाव का साक्षात् मिलन होता रहता है। इस तरह शुद्धोपयोगको प्राप्त करके यह आत्मा स्वयं धर्म

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रूप होता है। सो इस उपयोगको ज्ञेयस्वरूप ज्ञानतत्त्वमें विलीन करके आत्मा सहज शोभायमान सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकता स्वरूप महालक्ष्मीको प्राप्त करेगा ही। मुक्त अवस्थामें निरुपराग शुद्धात्माके अनुभवरूप धर्मकी यह पूर्ण स्थिति सदृश परिणममान होते हुए भी सतत बनी रहेगी। सर्वोच्च आनन्द व ज्ञान तथा साथ ही परद्रव्यसे अत्यन्त निर्लेप अवस्थान यहाँ ही है। मुमुक्षुवोंके मोक्षमार्गका अंत यहाँ ही है अर्थात् उस स्वमार्गसे चलते-चलते अंतमें जिस मंजिलपर पहुंचता है, जिसके बाद पूर्ण कृतकृत्यता है, कुछ भी करनेको नहीं रहा, वह परिणमन यहां ही है। हे शुद्ध चैतन्य देव ! जयवंत होओ। हे निज शुद्ध चैतन्य देव ! इस ही शुद्ध परिणमनसे परिणमकर स्वभाव व पर्यायमें अनुरूपता करो।

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज" द्वारा
जयपुर नगरमें सन् १९५३ ई० के वर्षायोगमें किये हुये प्रवचनों द्वारा
"प्रवचनसार प्रवचन तृतीय भाग" का सन् १९७४ ई० में यह द्वितीय संशोधित संस्करण सम्पन्न हुआ।

॥ प्रवचनसार प्रवचन तृतीय भाग समाप्त ॥

Version 1